अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध दर्शन के परम तत्त्व का समीक्षात्मक अध्ययन

[ADWAIT VEDANT AUR MADHYAMIK BAUDDH DARSHAN KE PARAM TATTWA KA SAMEEKSHATMAK ADHYYAN]

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

जय जय राम उपाध्याय

एम० ए० (दर्शन, प्रा० इति०) एल० टी०,

एल० एल० बी०, यू० जी० सी०, साहित्यरत्न

पर्यवेक्षक

डॉ० हरि शंकर उपाध्याय

रीडर दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अक्टूबर - २०००

दो शब्द

दर्शनशास्त्र में प्रारम्भ से ही अभिरूचि होने के कारण मैने पाठ्य-विषय के रूप मे स्नातक एव परास्नातक कक्षाओ मे दर्शनशास्त्र को ही विशेष अध्ययन के लिए चुना । एम० ए० करने के पश्चात् दर्शनशास्त्र मे पारंगत होने के लिए मैने **'अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध दर्शन के परम तत्त्व का समीक्षात्मक अध्ययन'** को शोध विषय के रूप मे ग्रहण किया और डॉ० हरि शंकर उपाध्याय प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के कुशल निर्देशन में सम्पन्न किया।

यद्यपि भारतीय दर्शन के वर्गीकरण के अनेक मानक हैं तथापि भारतीय दर्शन के दो प्रमुख वर्ग हैं। आस्तिक वर्ग, नास्तिक वर्ग। आस्तिक वर्ग के अन्तर्गत वैदिक परम्परा को मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय सम्मिलित हैं। इसके विपरीत वेद-विरोधी परम्परा को नास्तिक वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। (नास्तिको वेद निन्दकः)।

आस्तिक दार्शनिक परम्परा की पराकाष्ठा शकराचार्य के अद्वैत वाद मे होती हैं। यद्यपि नास्तिक वर्ग के अन्तर्गत बौद्धो के अलावा जैन और चार्वाक भी आते है तथापि नास्तिक परम्परा की पराकाष्ठा माध्यमिक बौद्ध दर्शन में होती हैं। इस प्रकार अद्वैत वाद और माध्यमिक शून्यवाद ये दोनो ही दार्शनिक परम्परायें आस्तिक और नास्तिक दार्शनिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इन दोनों परम्पराओं में तत्व ज्ञान के स्वरूप को लेकर ऐतिहासिक दृष्टि से गम्भीर मतभेद माना जाता रहा हैं। अतः दर्शन के छात्र के रूप में मेरे मन में यह जिज्ञासा रही है। कि इन दोनों दार्शनिक परम्पराओं के द्वारा

स्थापित तत्व सम्बन्धी मान्यताओ मे क्या अन्तर हैं ? इस प्रश्न की खोज के लिए मैने अपने शोध को विषय के रूप मे चुना।

आचार्य शंकर और आचार्य नागार्जुन के दार्शनिक सिद्धान्तो का सम्यक् और सर्वाङ्गीण विवेचन और मूल्याकन एक दुरूह तथा श्रमसाध्य व्यापार हैं। अतः एक सीमित शोध प्रबन्ध में उनके सभी दार्शनिक पक्षों को सम्मिलित करना सम्भव नहीं हैं मैने इन दोनों महान विचारकों के परम तत्व सम्बन्धी स्वरूप को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया हैं ये दोनो ही विचारधाराये दार्शनिक दृष्टि से भारतीय विचारधारा और आदर्श का नेतृत्व करती हैं।

आचार्य शंकर और नागार्जुन ने अपने अद्वैतवादी और माध्यमिक शून्यवादी दर्शन का प्रतिपादन किया उनके सिद्धान्तों से मैं विशेष रूप से प्रभावित हुआ। यद्यपि मेरे परिश्रम और डॉ० हरि शंकर उपाध्याय के मार्ग दर्शन से इस श्रमसाध्य कार्य को सम्पन्न करने में सफलता मिली है। तथापि मैं अपने कुछ अन्य गुरूजनों एवं आत्मीयजनो के प्रति बहुत आभारी हूँ। जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध प्रबन्ध को सम्पन्न कराने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

इस कार्य को सम्पन्न कराने का श्रेय मेरे गुरू डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी भूतपूर्व उपाचार्य दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद को हैं। अतः मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। उन्होंने समय-समय पर मुझे पुस्तके उपलब्ध कराके मेरी सहायता की। इसके अतिरिक्त प्रो० संगम लाल पाण्डेय, प्रो० डी० एन० द्विवेदी, प्रो० राम लाल सिंह भूतपूर्व आचार्य दर्शन विभाग के मार्गदर्शन एवं प्रेरणाओं ने मुझें इस कार्य के प्रति प्रोत्साहित किया।

इसके अतिरिक्त दर्शन विभाग की वर्तमान अध्यक्षा डॉ० मृदुला आर० प्रकाश, डॉ० नरेन्द्र सिंह, डॉ० जटा शंकर त्रिपाठी, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० आशा लाल, डॉ० श्रीकान्त मिश्र के सहयोग और प्रेरणाओ के लिए मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

डॉ० शकर दयाल द्विवेदी, डॉ० उमाकान्त शुक्ल, डॉ० अरूण दुबे, डॉ० श्याम कान्त त्रिपाठी, श्री एस० पी० पाण्डेय, श्री राम सागर गुप्ता, श्री अविनाश श्रीवास्तव, श्री देवानन्द त्रिपाठी, श्री सुरेन्द्र पाण्डेय, श्री हेमन्त उपाध्याय, डा० राम माया त्रिपाठी, कुमारी नीलिमा त्रिपाठी, कुमारी कुसुम गुप्ता, सभी शोध छात्रों का अभारी हूँ जिन्होंने इस असाध्य कार्य को साध्य करने में पूर्ण सहयोग दिया।

श्री ब्रह्मदीन पाठक, श्री भानु प्रताप त्रिपाठी (भूतपूर्व प्रधानाध्यापक), श्री शैलेन्द्र त्रिपाठी, श्री पी० के० एस० चौहान (कस्टम अधिकारी) श्री कमला कान्त पाण्डेय श्री अवधेश कुमार मिश्र (एडवोकेट) श्री राकेश पाण्डेय (रेलवे अधिकारी) महेश चन्द्र मिश्र आदि लोगो ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

श्री सुरेन्द्र नाथ अस्थाना (प्रधानाचार्य) एव समस्त स्टाफ के लोगो ने इस कार्य को पूर्ण में करने में सहयोग प्रदान किया।

मैं अपने पारिवारिक जनो के प्रति भी पूर्ण श्रद्धा एवं आदर भाव व्यक्त करता हँ जिन्होंने मुझें विषम परिस्थितियो से मुक्ति दिलाकर इस 'शोध ग्रन्थ' को पूर्ण करने में सहायता प्रदान किया। इस क्रम में मैं सर्वश्री श्रद्धेय पिता श्री हरिहर सहाय उपाध्याय (पूर्व प्रधानाचार्य), माता श्रीमती रामादेवी उपाध्याय, गुरू माता श्रीमती राजेश्वरी उपाध्याय, अग्रज श्री सन्त प्रसाद उपाध्याय (पुलिस अधिकारी) एवं भाभी श्रीमती प्रेमलता उपाध्याय, अनुज राम सुजान उपाध्याय,

कोशलेश (हरेराम) उपाध्याय, एव जीजा श्री शिवभूषण मिश्र (प्रवक्ता) श्री शिव लोचन मिश्र (प्रबन्धक एग्रो) श्री कैलाश नाथ पाण्डेय (प्रवक्ता) श्री राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी (पोस्ट मास्टर) श्री सुरेश चन्द्र त्रिपाठी, अग्रजा श्रीमती पद्मादेवी मिश्र, श्रीमती विमलादेवी मिश्र, श्रीमती सवितादेवी पाण्डेय श्रीमती शकुन्तलादेवी द्विवेदी श्रीमती सरलादेवी त्रिपाठी इत्यादि के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ।

मैं अपने ससुर श्री भवदेव उपाध्याय, (प्रबन्धक एल० आई० सी०) सास श्रीमती शीला उपाध्याय,(प्रधानाचार्य) एवं साले श्री आशीष उपाध्याय, मनीष उपाध्याय, (शोध छात्र) मुकुल उपाध्याय, तथा अपनी धर्मपत्नी श्रीमती दीप्ती उपाध्याय, एम०ए० (सा० हिन्दी, संस्कृत) का विशेष रूप से आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझें हमेशा इस सृजनात्मक शोध कार्य के लिए प्रेरणा एवं सहयोग प्रदान किया तथा घर के वतावरण को अध्ययन–अध्यापन के योग्य तथा सौहार्दपूर्ण बनाये रखा ।

मैं अपने बडें भाई साहब के प्रति एक बार पुनः आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने हमेशा मेरा मार्ग दर्शन किया। तथा मुझें लिखने–पढने के लिए प्रोत्साहित किया।

मैं अपने शोध विषय को समझने तथा हृदंयगम करने मे अनेक पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के साथ–साथ जिन पुस्तकों या विचारों का उपयोग किया हैं, उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। कमप्युटर टंकण कार्य में एम० एच कमप्युटर के व्यवस्थापक एवं टाइपिस्ट श्री रितेश जैदी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो सका।

जय जय राम उपाध्याय
जय जय राम उपाध्याय

विषय सूची

अध्याय

अध्याय १

ब्राह्मण परम्परा एवं श्रमण परम्परा

भारतीय विचारकों ने वैदिक युग से लेकर अद्यतन अनेक प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की रचना किया, जिनसे भारतीय इतिहास, संस्कृति और दर्शन पर समुचित प्रकाश पड़ता है। ये सभी साहित्य प्रधानतः धार्मिक होते हुए भी तत्कालीन समाज और संस्कृति की व्यंजना करते है। ऐसे साहित्य ब्राह्मण परम्परा के अर्न्तगत आते हैं।

ब्राह्मण साहित्य

(क) वेद पूर्व वैदिक युग से लेकर उत्तर प्राचीनकाल तक हिन्दू धर्म और समाज से सम्बन्धित अनेक साहित्यिक कृतियों की रचना की गयी इन कृतियों की रचना प्रायः ब्राह्मणों ने की, इस कारण ऐसी समस्त कृतियो को ब्राह्मण साहित्य कहा जाता है इसके अर्न्तगत सर्वप्रथम वेद आते हैं (वेद हिन्दू धर्म के प्राचीनतम प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं जिनसे तत्कालीन आर्य सभ्यता, समाज और धर्म उद्घाटित होता है)।[1]

वेद चार है, जिन्हें क्रमश. ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के नाम से जाना जाता है। सर्वाधिक प्राचीनग्रन्थ ऋग्वेद है, जिनसे पूर्व वैदिक आर्यो के जीवन, शिक्षा, समाज धर्म और राज्य की प्रारम्भिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके विवरण इस बात के प्रमाण है कि पूर्व वैदिक युगीन आर्य सभ्य और स्वस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे तथा आध्यात्मिक और दैवी

१, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास डा० जयशंकर मिश्र पृ०सं० १

शक्तियों का आदर करते थे । लौकिक और मानवीय मूल्यों के प्रति भी वे सजग और जागरुक थे इसका समय प्रायः १२०० ई० पू० माना जाता है ।

इसे आठ भागों में बॉटा गया है जिसे अष्टक कहा जाता है । प्रत्येक अष्टक आठ अध्यायों में विभक्त है । इस प्रकार ऋग्वेद में आठ अष्टक या चौंसठ अध्याय है वैसे सम्पूर्ण वेद दस (१०) खण्ड़ों में विभक्त है, जिन्हें मण्डल कहा जाता है । मण्डल के मन्त्र (सूत्र) के नाम से जाने जाते है और सूत्र के खण्ड 'ऋचा' के नाम से ।

अन्य तीनों वेद उत्तर वैदिक काल की कृतियॉ माने जाते है, जो आर्यो के उत्तर–कालीन जीवन को अभिव्यक्ति करते है । सामवेद की रचना उद्गगाता ऋत्विक के लिए की गयी थी, जिसका यज्ञ के अवसर पर प्रयोग किया जाता था । साम का अभिप्राय (गान) है, जिसमे सातों सुरो का संयोग है । देवताओं की स्तुति में सामवेद की ऋचाओं का सस्वर पाठ गान किया जाता है, और होम सम्पन्न किया जाता है ।

यजुर्वेद में गद्य वाक्यों का समावेश है जो ऋषियों द्वारा अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त किये जाते थे । यज्ञ के आयोजन एवं अनुष्ठान में अध्वर्यु की महत्वपूर्ण भूमिका मानी गयी है इसके दो भेद दर्शित किये गये है । कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद । शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र है इसमें विनियोग वाक्य नहीं है शुक्ल यजुर्वेद की बाजसनेयी संहिता है, यज्ञो की निष्पन्नता और उनका कार्यान्वयन इनसे सम्बद्ध है, कृष्ण यजुर्वेद की चार संहिताएं है तैत्तरीय संहिता, मैत्रायिषी संहिता काठक संहिता और काठकाविष्ठल संहिता । इन संहिताओं में यज्ञों का वर्णन है । अथर्ववेद में यज्ञों का बहुत कम उल्लेख है,

बल्कि उसमे मोहन–मारण, उच्चारण विघटन और विवाह, श्राद्ध आदि क्रियाओं का अधिकाधिक उल्लेख है ।

उत्तर वैदिक कालीन समाज और सस्कृति के विषय में वेदो के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों से भी जानकारी प्राप्त होती है ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का विस्तार से अर्थ भाष्य प्रयोग और आख्यान किया गया है तथा इसमें यज्ञ यागादिकों के विधानों का भी विस्तृत वर्णन है । वैदिक ग्रन्थो के तीन भेद है, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद । आरण्यक अरण्य (जंगल) से बना है इसमें यज्ञ के आध्यात्म तत्त्व की व्याख्या की गयी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीय ब्राह्मण कौषीतकि या साँख्यायन ब्राह्मण, ताण्डव या पंचविंश ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण अधिक विख्यात् है इन ब्राह्मण ग्रन्थो में वेद सदर्भित विविध आख्यान, यज्ञ वर्ण समाज शकुन अलौकिक घटनाओं देवतत्त्व के रहस्य, ज्ञान और भक्ति का विस्तृत समावेश है इनमें आर्यो के जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है तथा प्रारम्भिक हिन्दू–समाज के विषय में संभावित ज्ञान प्राप्त होता है।[1]

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमारा प्रयोजन भारतीय परम्परा की ऐतिहासिक व्याख्या करना नहीं है, बल्कि ब्राह्मण परम्परा के मूल में निहित दार्शनिक पक्षों का विवेचन करना है। उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण परम्परा का चरमोत्कर्ष अद्वैत वेदान्त में होता है यद्यपि अद्वैत वेदान्त की परम्परा अति प्राचीन है तथापि इसे व्यवस्थित तर्कसंगत दर्शन का स्वरुप देने का श्रेय आचार्य शंकर

१, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डा० जयशंकर मिश्र पृ०सं० २.

(७८८–८२० ई०) एव उनके पूर्ववर्ती आचार्यो गौडपादाचार्य आदि को जाता है।[1]

अद्वैतवेदान्त की दार्शनिक विचारधारा प्रस्थानत्रयी पर आधारित है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र उपनिषद् और श्रीमद्भगवदगीता आते है । उपनिषद्, गीता आदि के मूल में निहित दार्शनिक चिन्तन आदि ।

<u>वेदो और उपनिषदों की विचारधारा-</u>

भारतीय परम्परानुसार जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास की खोज करते है, तब उसके मूल, उत्स की खोज वेदो में जरुर करते है भारत में नाटक का विकास कैसे हुआ, इसकी खोज करते करते हम वेदो के संवाद–सूक्तो में नाटको के बीच देखते है वैष्णव धर्म का उत्स हम वेद मे प्रस्तुत विष्णु (सूर्य के अर्थ मे) शब्द में देखते है तथा शैव धर्म की जड हमें वेदों की रुद्र–भावना में मिलती है क्योंकि वेदो में बीज रूप में जो चिन्तन है, उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य में हुआ है ।

इन्द्र, वरूण, अग्नि, और सविता ये सभी वैदिक देवता ऐसे है, जिन का रूप और चमत्कार हम थोड़ा बहुत चर्म चक्षु से भी देख सकतें है । वेद कालीन मनुष्य का विश्वास था कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है, और उस देवता की पूजा करने से मनुष्य का कल्याण होता है । इस क्रम में बहुदेववाद का विकास उल्लेखनीय है।

१, भारतीय संस्कृति के चार अध्याय – रामधारी सिहं 'दिनकर' पृ०सं० १६६

बहुदेववाद :-

प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक देवता की कल्पना करते रहने के कारण वैदिक आर्य बहुदेववादी हो गये थे यह बात वैदिक साहित्य से भी प्रमाणित होती है किन्तु इन विभिन्न देवताओं को पूजते रहने पर भी आर्य यह मानते थे कि ये सभी देवता मूलतः एक ही है ।

निरुक्तकार का कहना है कि तत्रकर्मानुसार विभिन्न नामो से पुकारे जाने पर भी देव एक ही हैं। वेदो में ईश्वर की अवधारणा बहुत सुस्पष्ट तो नहीं मिलती, किन्तु उसकी सत्ता सुस्पष्ट है और इस कल्पना की नींव 'नासदीय सूक्त' में मिलती हैं।

ब्राह्मण जो सामान्यतः मत्रों के काल के बाद की रचनायें मानी जाती है, जिनको मौटे–तौर से कर्मकाण्ड विषयक कहा जा सकता है । ऋग्वेद संहिता अपने वर्तमान रूप में ६०० ई० पू० से चली आई है और अथर्ववेद संहिता उसके बाद से । ये एक या अधिक देवताओं की स्तुति में गाये हुए धार्मिक गीत है और सामान्यतः उस समय गाने के लिए रचे गये थे जब देवताओं की उपासना की जाती थी, भाषा की प्राचीनता शायद ब्राह्मणों की रचना से भी पहले आ गया । वैदिक युग के विचारों को सही तरीके से समझने में कठिनाई उत्पन्न करने वाली इन बातो के साथ हमें मंत्र सामग्री के खण्डित रूप में हम तक पहुँचने की बात जोड़ देनी चाहिए । ब्राह्मण ग्रन्थ परम्परा से जिस रूप में हमे प्राप्त हुए हैं किन्तु उसमें उनके साथ उपनिषद् भी शामिल है और उनसे मूलतः भिन्न है।[1]

१, मैक्समूलर उपनिषत्पूर्व विचारधारा – एम० हिरियन्ना पृ०स० २७

मैम्समूलर ने इसे मोनोथीइज्म अर्थात एकेश्वरवाद से अलग करने के लिए हेनोथीइज्म (Henotheism) अर्थात् एकाधिदेववाद कहा है।[1] इसे एकत्व की दिशा में जाने की सहज प्रवृत्ति की अचेतन अभिव्यक्ति मानते हुए उन्होने बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के मध्य विकास की एक निश्चित अवस्था कहा है।[2] किन्तु इस मत को अधिक लोगो का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ इस प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सभी धार्मिक काव्यों में स्वाभाविक होता है । ऋग्वेद के लगभग सभी मंत्र देवताओं की स्तुति में बनाये गये है। ये देवगण प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के स्वामी अथवा उनके सार थे। इसलिए वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग या ग्रीक देवताओ की तरह सुनिश्चित नहीं थे । जिस तरह प्राकृतिक शक्तियॉ एक दूसरे से सम्वन्धित है उसी तरह से ये देवता भी आपस में सम्बन्धित है । वैदिक देवगणों का कोई स्पष्ट व्यक्तित्व नहीं है।[3] इन समस्त देवताओं को देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद बहुदेववादी (Polytheistic) थे तथा दूसरी ओर कुछ लोगों के मतानुसार वेद केवल एकेश्वरवादी (Monotheistic) है परन्तु ये दोनो ही मत एकांगी है । वैदिक विचारधारा में क्रमशः विकास दिखाई पड़ता है वास्तव में उसमें बहुदेववाद और एकदेववादी दोनों प्रवृत्तियाँ है बहुदेववाद के समान वैदिक देवगण अपनी अपनी अलग सत्ता नहीं रखते ।

---

१. उपनिषत्पूर्व विचारधारा – एम० हिरियन्ना पृ०सं० ३७

२. Six systems of Indian Philodophy पृ०सं० ४०–३७

३. वेद का दर्शन – वात्स्यायन पृ० १६

इस प्रवृत्ति को प्रो० मैक्समूलर ने हीनोथीज्म अथवा कथीनोथीज्म कहा है इसका अभिप्राय "अकेले देवताओं में विश्वास जिसमें से हर एक बारी–बारी से सर्वोच्च माना जाता है" क्योकि देवगण अपने क्षेत्र मे विशेषरूप से शासन करने वाले समझे जाते थे, इसलिए अपने विशेष प्रयोजनो और इच्छाओं के अनुसार गायको ने उसी देवता का स्मरण किया जिस देवता मे वे उस विषय में सबसे अधिक शक्ति समझते थे ।

अतः अनेक विद्वानो के अनुसार वेद में बहुदेववाद से हीनोथीज्म और फिर भी एक देववाद की ओर विकास हुआ है मैक्डोनल के अनुसार 'हीनोथीज्म' एक भ्रम मात्र है जो कि अविकसित मानवेश्वरवाद की अस्पष्टता के कारण, वैदिक देवगणों में किसी भी देवता को ज्यूस (Jues) के समान अध्यक्ष का पद न मिलने के कारण, एक देवता की स्तुति करते समय उसकी महानता की अतिशयोक्ति करने और दूसरो की अवहेलना करने की साधक अथवा गायक की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण और देवताओं की एकता में बढते हुए विश्वास के कारण था । अवतारों की कल्पना तो वेद मे नहीं मिलती, हॉ विष्णु के वामनावतार की कथा का अंकुर ऋग्वेद के अनेक मंत्रो में पाया जाता है परलोक या देवयान या पितृयान का विवरण जिन सुक्तो में है, उन्ही में आत्मा और पुर्नजन्म का भी कथन है।[1]

व्यक्ति का एक अंश जन्म रहित और शाश्वत है एक अन्य मंत्र में जीवात्मा को कर्मफल–भोक्ता बताया गया है । ये सारे विचार वैदिक युग में अंकुरित हो चुके थे, किन्तु धर्म के नाम पर अत्यन्त विशाल वृक्ष यज्ञो का ही था और यज्ञ ही आर्यो का प्रधान कर्म था ।

१, वेद का दर्शन – वात्स्यायन पृ०सं० १७

"विश्व की उत्पत्ति का स्थान यज्ञ है सभी कर्मो में श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है" यज्ञ के कर्मफल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1] "वृष्टिकामो जयेत" (वर्षा चाहने वाला यज्ञ करें) ऐसे वाक्य वेद मे बहुत होगे । यज्ञ आर्यो का मुख्य धर्म था और यज्ञ में पशु–हिंसा काफी की जाती थी इसलिए आर्य–धर्म के विरुद्ध उठाने वाली क्रांन्ति का मुख्य लक्ष्य यज्ञ हुआ।[2]

ब्राह्मण वैदिक भारतीय यज्ञो के बडे प्रेमी थे उनका सारा जीवन ही यज्ञमय था। वे वर्षा के लिए यज्ञ करते थे, महामारी से बचने के लिए यज्ञ करते थे, शत्रुओ पर विजय पाने के लिए यज्ञ करते थे, पशुओं के स्वास्थ्य के लिए यज्ञ करते थे और परलोक में सुख पाने के लिए यज्ञ करते थे जीवन में यज्ञ की इसी व्यापकता के कारण उस समय के भारतीय समाज में पुरोहितों और ब्राह्मणों का महत्व अत्याधिक बढ गया और यज्ञो की विधियों को निर्धारित करने के लिए जो ग्रन्थ बनें, उनका नाम ही ब्राह्मण पड़ा ।

वेदों में यज्ञो का विधान है उसमें यह शिक्षा निहित है, यदि मानव सभी दृष्टियों से सम्पन्न और विजयी रहना चाहता है तो उसे देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करना चाहिए, यही नहीं बल्कि अगर मरने के बाद भी सुख भोगने की इच्छा हो, तो स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करों। यह एक प्रकार का भोगवादी उपदेश था जिसे समाज में बड़े ही उत्साह से ग्रहण किया था लेकिन वेदो के ऋषि यहीं तक नहीं रुके थे ऊँची–ऊँची बाते सोचते हुए उन्होने जब तक यह संकेत भी किया था कि स्वर्ग से उपर भी कोई स्थिति हो सकती है ।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, – रामधारी सिहं दिनकर पृ०सं० १२३

२. इस प्रसंग के सारे उद्धरण – पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी के हिन्दी ऋग्वेद और भूमिका से लिए गयेहै रामधारी सिहं दिनकर पृ०सं० १२५

कि यह सृष्टि कहाँ से निकली है, तथा इसका स्वामी कौन है। जब ऋषियो मे से कुछ लोगो को यज्ञ अयथेष्ट मालुम होने लगे, तब उनका ध्यान वेद के उन अंशो पर गया, जिनमें स्वर्ग से उच्च स्तर की स्थिति की ओर संकेत किया गया था। उपनिषद् वेद के उन स्थलों की व्याख्या है। जिनमे यज्ञों से अलग हटकर ऋषियों ने जीवन के गहन तत्वों पर विचार किया है।[1]

वैदिक धर्म में बहुदेववाद, एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध में भी विद्वानो मे गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान यदि वैदिक धर्म को बहुदेववादी मानते है और अन्य एकेश्वरवादी। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऋक संहिता के प्राचीनतम अंशो में ही भारत योरोपीय युग से प्राप्त अनेक देवो के उपर एक सर्वोच्च देव की अवधारणा दृष्टिगोचर होती है। यूनानी बहुदेववाद में भी अनेक देवो के उपर सर्वोच्च देव 'जउसे' हैं। तथा अवेस्ता में 'यजत्' (उपास्य) वर्ग से उच्च 'अहुरमज्द' की प्राप्ति होती है।

वेद का व्रहत् अंश 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है; यद्यपि 'ज्ञानकाण्ड' में वैदिक विचार की परिणति होती है। कर्मकाण्ड परक वैदिक धर्म को जानने और 'यज्ञ' के स्वरूप को समझने के लिए 'देव' का स्वरूप समझना आवश्यक है, यज्ञ में देवता के उद्धेश्य से द्रब्य त्याग किया जाता है जिस देवता के लिए हवि दी जाती है । होता (ऋत्विक विशेष) उसका मन में ध्यान करता है।[2] अतः देव स्वरूप का ज्ञान वैदिक धर्म के ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मंत्र और ब्राह्मण दोनो ही वेद है अर्थात् वेद के दो मुख्य भाग होते है । मंत्र एवं ब्राह्मण मंत्र याज्ञिक समाख्यान करता हैं मंत्र देवता का स्मारक है । यज्ञ

१, अभिमानिब्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्यम् (ब्र० सू० २/१/५)

२, निरुक्त ८/२२

में देवताओ की स्तुति आहुति आदि मन्त्रों के समान ब्राह्मण का कार्य यज्ञ सम्बन्धी क्रिया का व्याख्यान करना है। मत्र बीजरूप है तथा ब्राह्मण वृक्षरूप है, मत्र संक्षिप्त तथा ब्राह्मण भाष्य है। ब्राह्मण की सहायता के बिना मंत्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता। जैसे सूत्र का भाष्य के बिना अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विशद् विवेचन है। याज्ञिक क्रिया की व्याख्या है, गोपथ ब्राह्मण[1] में स्पष्टतः कहा गया है कि यह यज्ञ की आत्मा ही है।

ब्राह्मणों के सम्बन्ध में विवाद

ब्राह्मण के लक्षण के सम्बन्ध में मत्रो के समान बडा विवाद है । आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा"२" में बतलाया गया है कि याज्ञिक कर्मो मे प्रवृत्त करने वाला ही ब्राह्मण है । इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण विधिरूप हैं या विधायक रूप हैं क्योकि यह कर्म में प्रवृत्त करता है । कुछ लोग जैसे जैमिनि आदि ऋषि बतलाते है कि जो मंत्र नहीं है वही ब्राह्मण है यही ब्राह्मण या लक्षण है।[2]

तात्पर्य यह है कि मंत्र एवं ब्राह्मण दोनो ही वेद है। मंत्र के शेष भाग को ब्राह्मण कहते है। माधवाचार्य 'तथा सायवाचार्य आदि विद्वान भी ब्राह्मण का यही लक्षण मानते है। परन्तु यह लक्षण भी यथार्थ नहीं स्वीकार करता। इसका तात्पर्य यह है कि इस लक्षण से ब्राह्मण के स्वरूप का पता नहीं चलता। इससे केवल इतना ज्ञात होता है कि जो मंत्र नहीं है, वह ब्राह्मण है यह अभावात्मक परिभाषा हैं। जिससे ब्राह्मण के स्वरूप का पता नहीं चलता है

१, तच्चौदकेषु मन्त्राख्या शेषे ब्राहमण शब्द – जै० मी० सू० २/१/३३

२, नास्त्येतद् ब्राहमणोत्यत्र लक्षणं विद्यतेड्थवा– डा० बी० एन० सिहं पृ०सं०३४

कुछ विद्धानों का कहना है कि जिनमें 'इतिकरण' आदि शब्द हो वे ही ब्राह्मण कहलाते है। परन्तु इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष है बहुत से मंत्रों एवं वाक्यो में भी इतिकरण शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतः सायणाचार्य इसे ब्राह्मण का लक्षण नहीं मानते।[1]

कुछ विद्धानों के अनुसार ब्राह्मण विधिवाचक है, विधिवाचक शब्द दस है अतः ये सभी ब्राह्मण के लक्षण है, जैसे विधिवाचक शब्द है, हेतु निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारण, कल्पना एवं उपमान[2] परन्तु इस लक्षण में अति व्याप्ति दोष है क्योकि इनमें से कई मंत्र भाग में भी पाये जाते है इस प्रकार ब्राह्मणों के सभी लक्षणों मे कुछ न कुछ दोष दिखायी पडता है। उनके मतानुसार याज्ञिक परम्परा मे यज्ञ के अवशिष्ट भाग ही ब्राह्मण है। ब्राह्मण वेद का वह भाग है । जिसमें मंत्रों का विनियोग होता है इसी विनियोग द्वारा यज्ञो का विधान किया जाता है यह विधान बृहद भाष्य रूप है । अतः ब्राह्मणों को मंत्रो का भाष्य माना जाता है । मंत्र बडे दुरूह तथा दुर्बोध है। इसका अर्थ समझना सरल नहीं है । इसी कारण ऋषियों ने ब्राह्मणों की रचना किया है अत ब्राह्मण मूल वेद के भाष्य माने जाते है इनकी भाषा मंत्रों के समान दुरूह नहीं है । ब्राह्मणों की भाषा लौकिक तथा व्यावहारिक भाषा है; इस कारण ब्राह्मण काल में मंत्रों को ही वेद समझा जाता था । परन्तु कालान्तर में ये मंत्र दुर्बोध हो गये। अतः ऋषियों ने लौकिक भाषा में मंत्रों के भाष्य की रचना की । इस प्रकार मंत्र एवं ब्राह्मण दोनो वेद कहलाये ।

१, इतिकरण बहुलं ब्राह्मणमिति चेत न – – सायणाचार्य ऋ–भ–भू पृ०सं०६६

२, हेतु निर्वचनं प्रशंसा संशयोविधिः।

पर क्रिया पुर कल्पो व्यवधारण कल्पना।।

ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय -

(१) ऐतरेय ब्राह्मण, (२) साख्यायन ब्राह्मण, (३) शतपथ ब्राह्मण,

(४) तैत्तरीय ब्राह्मण (५) ताण्ड्य ब्राह्मण, (६) गोपथ ब्राह्मण ।

ये ऋग्वेदीय ब्राह्मण है । इसमें ४० अध्ययन है जो आठ पंचको में विभक्त है, इस के रचयिता महीदास ऐतरेय माने जाते है, इस ग्रन्थ की सप्तम पंचिका में हरिश्चन्द्र की कथा से भिन्न है ।

ब्राह्मण ग्रन्थ जो वेदो के दूसरे भाग है, क्रिया–कलापों का विधान करने वाली ये पाठ्य पुस्तके है; जिनका मुख्य कार्य यज्ञ सम्बन्धी जटिल संस्कार विधियों में पुरोहितों का पथ प्रदर्शन करना है। उनमें से प्रधान ऐतरेय और शतपथ हैं। बाद में आपस में कुछ मतभेद हो जाने के कारण ब्राह्मणों के विभिन्न सम्प्रदाय बन गये।

ब्राह्मण ग्रन्थों का धर्म विशुद्ध रूप से औपचारिक था। कवियों का जोश और वैदिक सूक्तों की हार्दिकता (निष्कपटता) अब प्राप्त नहीं होती। परमात्मा को कर्मो में प्रवृत्त करने के लिए ऊँचे स्वर से प्रार्थना करना आवश्यक समझा गया।

वेदो के सीधे सादे भक्तिपरक धर्म का स्थान एक ऐसे कठोर और आत्मा को निष्क्रिय बना देने वाले वणिक् सम्प्रदाय ने ले लिया। जिसका आधार अनुबन्ध के रूप में एक उद्वेश्य सिद्धि था, पुरोहित लोग जिनके पास वेद विद्या का ज्ञान था। मनुष्यों और देवताओं के बीच अधिकार प्राप्त मध्यस्थ और दैवीय कृपा की दृष्टि करने वाले बन गये। जनता के हृदय में वेदो की पवित्रता का भाव बढ़ गया वेदो की रक्षा का भार ब्राह्मण वर्ग के सुपुर्द किया गया था यदि

वेदो को जीवित रखना है तो ब्राह्मणों को अपने पेशे के प्रति सर्तक या ईमानदार रहना होगा ।

ब्राह्मण के लिए यह उचित है कि वह सासारिक मान–प्रतिष्ठा को विष के समान समझकर छोड दे । ब्रह्मचारी व विद्यार्थी की अवस्था में उसको अपनी वासनाये बस में रखनी चाहिए ।

आरण्यक -

ब्राह्मणों में उपदेश एवं धार्मिक कर्त्तव्यो का विधान है, उपनिषद् एवं आरण्यक ब्राह्मणो के अन्तिम भाग है जिसमें दार्शनिक समस्याओ की विवेचना पाई जाती है । आरण्यको का स्थान ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच है आरण्यक उन पुरुषों के मनन एवं चित्तन के विषय थे जो वनों में रहते थे, ब्राह्मण ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है जिनका विधान गृहस्थ के लिए था । किन्तु वृद्धावस्था में जब वह बनों का आश्रय लेता था तो कर्मकाण्ड़ के स्थान में किसी ओर वस्तु की उसे आवश्यकता है, और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते है ।

आरण्यक एक प्रकार से ब्राह्मणों में विहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान के मध्यवर्ती सॅक्रमणकाल की श्रृंखला के रूप में है। जहाँ वैदिक सूक्त कवियों की कृतियॉ है।[1] वहॉ ब्राह्मण ग्रन्थ पुरोहितों की रचनाये है और उपनिषद् दार्शनिकों के मनन एवं चिन्तन के परिणाम है । सूक्तों के स्वरूप धर्म एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का नियमबद्ध धर्म एवं उपनिषदों की भावनामय धर्म उन तीन बड़े विभागों के साथ, जो हेगल के धर्म सम्बन्धी विकास का भाव है, अत्यन्त

१, ऋग्वेद – १, १६४, ६:१०, १२६, ४१

निकट रूप में समानता रखते है यद्यपि बाद मे ये तीनो विभाग साथ–साथ विद्यमान रहें, फिर भी इनमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में इनका क्रमशः एक दूसरे के पश्चात् भिन्न भिन्न कालों मे हुआ । उपनिषद् जहॉ एक वैदिक पूजा की परम्परा मे है, वहॉ दूसरी ओर ब्राह्मण के धर्म के विरोध में है ।

मैक्समूलर संहिता के दो रूप मानते है। द्वन्दकाल और मंत्रों का समय[1]। पहले भाग में सूक्तों की रचना हुई ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ पद्धतियों को पूर्णरूप से स्थिर होने के लिए और उपनिषदों मे प्रतिपादित दार्शनिक विचारों को भी पूर्णरूप में विकसित होने में अपर्याप्त समय लगा।[2] कई भारतीय विद्वानों ने वैदिक सूक्तों का समय ३००० ई०पू० बताया है । दूसरो ने ६००० ई०पू० निर्धारित किया है । स्वर्गीय तिलक इनका समय लगभग ४५०० ई०पू० ब्राह्मण ग्रन्थों का समय २५०० ई०पू० और प्राचीन उपनिषदो का १६०० ई०पू० निर्धारित करते है। जैकोवी सूक्तों के निर्माण काल को ४५०० ई०पू० रखता हैं। उसके लिए यज्ञों का प्रचार होना अनिवार्य था क्योकि ईश्वर के प्रति प्रेम की गहराई इसी में निहित है, कि उपासक अपने सर्वस्व और सम्पत्ति को ब्रहम को अपिर्त कर दें । हम प्रार्थना एवं समर्पण करतें हैं जिस समय यज्ञात्मक समर्पण केवल औपचारिक रूप में थें, तब भी भावना को भी अधिक महत्व दिया जाता था और यज्ञ के वास्ताविक स्वरूप पर ही बल दिया जाता था। "इन्द्र के प्रति भावपूर्ण वाणी बोलो जो घी या मधु से अधिक मधुर है"।

१– कभी–कभी धार्मिक विश्वासों एवं सामाजिक रीतियों के कारण सूक्तों को भी पॉच विभिन्न कालों में विभक्त किया जाता है। – अर्नाल्ड : वैदिक मीटर

२– आधुनिक दर्शन पद्धतियों को बहुत से पारिभाषिक शब्द जैसे ब्रहम, आत्मा योग, मीमांसा आदि निकले है।

प्रत्येक संस्कार में श्रद्धा का भाव आवश्यक है। वरुण देवता ऐसे है जो कि मानवीय ह्रदय के गुह्यतम भागों में प्रवेश करके अन्तर्निहित प्रेरक भाव का पता लगाता है। धीरे धीरे देवताओं को मानवीय और आवश्यकता से अधिक मानवीय रूप दे देने के कारण उन्होने सोचा कि ईश्वर के ह्रदय में स्थान पाने के लिए पूर्ण भोजन अर्पण करना सबसे उत्तम मार्ग है।[1] दार्शनिक विचार और तत्व चित्तन के कारण उनका अपना विशिष्ट महत्व है। उपनिषदें सामान्यत: आरण्यक के अन्त में है और आरण्यक ब्राह्मण के, इसलिए कभी–कभी वे विषय, जो ब्राह्मण में विवेचित होने चाहिए, आरण्यक में और आरण्यक के विषय उपनिषद् में मिल जाते है।

अतएव परम्परानुयायी पण्डित वर्ग वेदो को सनातन मानता है, फिर भी उपनिषदे जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा की परिणति है, वहॉ उनका ज्ञानकाण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड का विरोधी भी प्रतीत होता हैं। इस सारी समता और भिन्नता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही देखकर समझा जा सकता है। वैदिक दार्शनिक चिन्तन स्वाभाविक रूप से पुराकथा और धर्म में अभिव्यक्त हुआ। धर्म का मूलरूप रहस्य से आच्छादित है, वैदिक धर्म के बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है ।

ब्राह्मण भाग की रचना सामान्यतः मंत्र भाग की रचना के बाद हुई। ब्राह्मण का तात्पर्य मैक्समूलर और एग्लिग ने ब्रह्मा नामक पुरोहित के वचन या उनके लिए विहित निर्देश रूप में लिया है । प्रोफेसर मैकडानेल के अनुसार ये उस युग की आत्मा प्रतिविम्बित करते है ।

१– आठवें हिस्से को अष्टक कहतें है।

जिसमें सारी बौद्धिक क्रियाशीलता, यज्ञ, अनुष्ठानों के वर्णन उसके मूल्य पर विमर्श तथा उसके आरम्भ और महत्व के विश्लेषण पर ही केन्द्रित थी ।

आरण्यक सामान्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग है इनका यह नाम सम्भवत. अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ मुनियों के द्वारा उच्चरित होने के कारण या अरण्य की शंान्ति में शिष्यों को उपदिष्ट होने के कारण पड़ा । आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों से परवर्ती है, यह उनकी विषय वस्तु और उनके ग्रन्थ के अन्तिम भाग से भी स्पष्ट है इनमें यज्ञ को प्रतीकात्मक विवेचन और पौराहित्योंन्मुख दर्शन प्राप्त होता हैं। कर्मकाण्ड की रूपकात्मक व्याख्या इसमें पायी जाती है फिर भी इनका विषय एकविध न होकर बहुविध है इसमें प्रस्तुत यज्ञ का रहस्यात्मक विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड और उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड के बीच सेतु सरीखा है।[१]

वैदिक धर्म के अनुसार धर्म का मूलरूप रहस्य से आच्छादित है किन्तु हम यह स्वीकार कर लेते है कि उसका प्राचीनतम रूप प्राकृतिक शक्तियों और उपादानों की उपासना का था। इस धर्म के साथ मिलकर पुराकथा परम सत्ता के बारे में प्रश्नों के उत्तर–प्रस्तुत करती है और धीरे–धीरे बाद में तर्क कल्पना का स्थान ले लेता है । पश्चिमी विद्धानों ने धर्म और दर्शन की विचार सन्तति के विकास में कई सोपान या स्तर माने गये है ।

जिनमें धर्म, पुराकथा, और विश्व–विज्ञान परस्पर मिश्रित है । वैदिक धर्म के विकास पर विचार करते हुए सामान्यतः पश्चिमी विद्धान वैदिक धर्म में भारत योरोपीय युग तथा भारत ईरानीयुग से प्राप्त प्रकृति उपासना के तत्व स्वीकार

१– डा० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन – भाग एक पृ०सं० ७१

कर प्राचीन वैदिक धर्म को प्रकृति उपासना परक धर्म ही मानते है । उनके अनुसार वैदिक युग में प्रकृति के विभिन्न पक्षो की देवरूप में कल्पना कर उनकी उपासना की जाती थी किन्तु इस सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय दृष्टि भिन्न है इनके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षो या उपदानों तथा भावों की उपासना नहीं अपितु उनके अधिष्ठात् अथवा अभिमानी देवो की उपासना की जाती है[1]। वैदिक धर्म के सन्दर्भ मे यही दृष्टि सत्य प्रतीत होती है ।

आरण्यकों के अन्तिम भाग 'उपनिषद' है जो ज्ञान–प्रधान है तथा दार्शनिक विचारों से भरे है । इन्ही को 'वेदान्त' कहते है, क्योकि ये वेद के अन्तिम भाग है, इनमें वेद के चरम सिद्धान्तों का विवेचन है तथा इसमें वेद का सारतत्व प्रतिष्ठित है[2]। वेद के संहिता भाग और ब्राह्मण भाग को 'कर्मकाण्ड' आरण्यक भाग को, उपासना काण्ड तथा उपनिषद् भाग को 'ज्ञानकाण्ड' कहा जाता है । कर्म प्रधान होने पर भी संहिता और ब्राह्मण भागों में आध्यात्मिक तत्व चिन्तन के बीज विद्यमान है तथा आरण्यक भाग में उपासना द्वारा कर्म से ज्ञान की ओर संक्रमण है ।

भारतीय परम्परानुसार वेद नित्य और अपौरूषेय है, तथा अक्षय ज्ञान के भण्डार है इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों से वेदों का उपवृंहण होता है कलान्तर में यागादि क्रियाओ का विस्तार हुआ । वैदिक आर्य देवताओं की प्रार्थना करने लगे 'हम' तुम्हें यज्ञ में हवि देते है, तुम हमें वीर–पुत्र–पौत्र

१– अभिमानिब्यय देशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् – ब्र०सू० २/१ /५

२– संस्कृत में 'अन्त' शब्द के तीन अर्थ होते है 'अन्तिमभाग' 'सिद्धान्त और सारतत्व'। 'वेदान्त' शब्द में ये तीनों अर्थ संगत् है – सी० डी० शर्मा पृ०सं० ३

अच्छे घोडे, पुष्ट बैल दुधारू गाये, प्रभूत धान्य एवं सुख समृद्धि दो, आपदाओं से हमारी रक्षा करो तथा शत्रुओ के साथ युद्ध में हमें विजयी बनाओं। वैदिक सभ्यता के विकास क्रम में इस प्रथम अवस्था को प्राकृतिक तथा मानवीयकृत' बहुदेवाद की संज्ञा दी गयी हैं। कालान्तर में इस बहुदेववाद का विकास मैक्समूलर के अनुसार 'एकदा एक एवं देववाद' (हेनोथीज्म) मे हुआ। जिसके अनुसार वैदिक आर्य जब किसी देवता की स्तुति करते थे। तो उस समय उस देवता को ही एक मात्र सर्वोच्च देवता मान लेते थे। आगे चलकर यह 'एकदा एक एव देववाद' एकदेववाद या एकेश्वरवाद में परिणत हुआ। फिर इस एकेश्वरवाद के साथ सर्वेश्वरवाद की भी मान्यता हुई। कालान्तर में इसका चरम विकास 'एकतत्ववाद' या 'अद्वैतवाद' के रूप में उपनिषद् में प्रतिष्ठित और विकसित हुआ।

संहिता भाग में ब्राह्मण और आरण्यक भाग द्वारा उपनिषद् भाग तक वैदिक दर्शन का जो विकास हुआ है वह निश्चित ही पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित बहुदेववाद से एकदा एक एव देववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद द्वारा एकतत्ववाद के रूप में नहीं हुआ। वैदिक आर्य बाहर से आये, यह विवादास्पद है; किन्तु वैदिक ऋषि अर्धसभ्य न होकर सुसंस्कृत विद्वान् तथा प्रतिभाज्ञान सम्पन्न थे यह निर्विवाद है इन मंत्र दृष्टा ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत आध्यात्मिक रहस्य मत्रों के रूप मे प्रकट हुए हैं। संहिता भाग भी आध्यात्मिक अद्वैतवाद से अनुप्राणित हैं। संहिता से उपनिषद् तक वैदिक दर्शन का विकास इस केन्द्रीय आध्यात्मिक अद्वैतवाद का ही विकास हैं। जो अपने अर्न्तगत एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद को परात्परत्व और अन्तर्यामित्व को, तथा भेद, अभेद और भेदाभेद को समाहित किये है वेदों में प्राकृतिक मानवीयकृत

बहुदेववाद की कल्पना कोरी कल्पना हैं। वैदिक देवता–गण ही देवता की विभिन्न व शक्तियों के प्रतीक है। देवताओं को 'असुर' अर्थात प्राणवान, बलवान, अप्रतिहत सामर्थ्य सम्पन्न माना गया है तथा उनके 'असुरत्व' को स्पष्टतया एक ही स्वीकार किया गया है।[1]

वेदो में सर्वब्यापी, सर्वात्मक, और परात्पर देवतत्व एक ही है तथा विविध देवगण इसी की शक्तियों के विविध रूप हैं। यह सर्वान्तर्यामी सूत्रात्मा है यह विश्वनियन्ता है वेदो के ये वाक्य निश्चय ही बहुदेववाद के पोषक नहीं हैं। जब बहुदेववाद एकदेववाद या एकेश्वरवाद में विकसित होता हैं। तो देवमण्डल के सर्वाधिक शक्तिमान देव को ही 'देव' या ईश्वर के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु वेदों में तो ऐसा नहीं हुआ हैं पुनश्च, मैक्समूलर महोदय को हेनोथीइज्म (एकदा एक एवदेववाद) शब्द निर्मित करने का कष्ट करने की अपेक्षा यह स्वीकार कर लिए गया कि विविध देव 'परदेव' के ही विविध प्रतीक है।[2] अत. जब किसी देव की स्तुति की जाती है, तो वह स्तुति वस्तुत. 'परदेव' की शक्ति ही होती हैं। यह तत्व सृष्टि मे भी व्यापक है और सृष्टि के पार भी हैं। वैदिक दर्शन में संहिता से लेकर उपनिषद तक इसी अद्वैतवाद का विकास हुआ हैं।

'पुरुष ही यह सब कुछ है, भूत–वर्तमान, और भविष्य में जो कुछ था है या होगा, वह सब पुरुष ही है ।[3]

१– महद देवानामसुरत्वमेकम् । ऋग्वेद ३/५५

२– एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। वही १–१६४–४६

३– पुरुष एवेंद सर्वपद् भूतं पच्च भाव्यम्। पुरुष सूक्त ऋग्वेद १०–९० यजुर्वेद

उस एक ही महान सत् की उपासना ऋग्वेदी 'उक्थ के रूप में यजुर्वेदी 'अग्नि' के रूप में और सामवेदी 'महावृत' के रूप में किया करते है।[1] वह प्रकाशमान अपरिमेय तत्व अदिति है । अदिति ही आकाश है, अन्तरिक्ष है, माता है पिता है, पुत्र है, समस्त देव मण्डल है, सारा मानव समुदाय है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है जो भी उत्पन्न होने वाला है वह सब अदिति ही है ।[2].

वेदो में सत् को सत्ता की दृष्टि से 'सत्व' और नैतिक नियमन की दृष्टि से ऋत् तथा आनन्द की दृष्टि से मधु या मधुमान कहा गया है । ऋत् के कारण जगत की सुव्यस्था है । देवगण ऋत् के ही स्वरूप है। सूर्य ऋत् का विस्तार करते है नदियाँ ऋत् को प्रवाहित करती है[3]। यह पृथिवी, आकाश, वायुमण्डल, सरितायें, पर्वत, बृहस्पति, और सूर्य सब मधुमय है । यह मधुमान है यह रसवान हैं।[4]

विष्णु के उस परम पद को ज्ञानी, जागरूक विद्वान ही जानते है सृष्टि के आदिकाल में न सत् था न असत् न वायु थी न आकाश न मृत्यु थी न अमरता, न रात थी न दिन, उस समय केवल वही एक था जो वायुरहित स्थिति में भी अपनी शक्ति से सॉस ले रहा था उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

उसके साक्षात् ज्ञान से ही मृत्यु के पार जाया जा सकता है मृत्यु और संसार के पार जाने का अन्य कोई मार्ग नहीं हैं । इस उच्छिष्ट (प्रपंञ्च निषेध के बाद अवशिष्ट सत्) पर नामरूप आश्रित हैं इसी पर सारा लोक आश्रित है ।

१— ऐतरेय आरण्यक ३—२—३—१२ डा० सी० डी० शर्मा पृ०सं० ४

२— ऋग्वेद १—८६—१० डा० सी० डी० शर्मा पृ०सं० ५

३—तद् विप्रासों वियन्यवों जागृवांसः समिन्धते ।विष्णोर्यत् परम पदम् ।वही १,२२,२१

४— ऋग्वेद नासदीयसूक्त १०—१२६

इस पुरूष का एक पाद (अंश) यह सारा चराचर विश्व है, इसके शेष तीन पाद इस विश्व के पार अमृत मे स्थित है ।

उपनिषद् -

साहित्य वेदों के अन्तिम भाग है अत उन्हे वेदान्त भी कहा जाता है। और अलौकिक विद्या के विकट और गूढ रहस्यों को विस्तार से प्रतिपादित किया गया है वैसे उपनिषद् का अर्थ ही अध्यात्म विद्या है, जिसके माध्यम से ज्ञानतत्व का विकास और ब्रहम की प्राप्ति होती है इसमें जीव और जगत के भेद सच्चे ज्ञान की विवेचना ब्रहम को प्राप्त करने के माध्यम आदि विषय पर विशद् वर्णन मिलता है। यद्यपि उपनिषदों की सँख्या को लेकर विवाद है, तथापि इनमें बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तरीय, केन, काठक (कठ) ईश, श्वेताश्वतर, प्रश्न, माण्डूक्य आदि उपनिषदें अधिक प्रसिद्ध है।[1] प्रधान उपनिषदों की रचना भगवान बुद्ध के समय से बहुत पहले ही चुकी थी इन उपनिषदों का प्रधान विषय आत्मा–परमात्मा ब्रहम के स्वरूप और उनका पारस्परिक सम्बन्ध हैं। वस्तुतः उपनिषद् वैदिक युगीन ऋषि मनीषियों के आध्यात्मिक विचारों और आत्म ज्ञान के प्रतीक है।

वेदांगों -

वेदागों की रचना वेदों के अर्थ और विषय को समझने के लिए की गयी थी, इसलिए इन्हें 'वेदांग' कहा गया है, इनकी संख्या छह थी। शिक्षा व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष और कल्प (सूत्र साहित्य) वेदों के शुद्ध उच्चारण और पाठ के लिए शिक्षा साहित्य का निवेशन किया गया था। वस्तुतः वेदों का अर्थ

१– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डा० जय शंकर मिश्र पृ०सं० ३

उसके शुद्ध और सही उच्चारण और पाठ से अभिव्यक्त होना माना गया है। भाषा को वैज्ञानिक शैली प्रदान करने के लिए व्याकरण की व्यवस्था की गयी थी। इसमें उसकी गतिशीलता और तारतम्य बना रहा ।

इस सन्दर्भ में पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' सर्व प्रथम लिखा गया एक महान व्याकरण ग्रन्थ है, जिसकी रचना छठी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० पू० के बीच मे किसी समय की गयी थी। इस पर दूसरी सदी ई० पू० मे पतजलि का महाभाष्य उल्लेखनीय है तीसरी सदी ई० पू० कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों के आधार 'वर्तिका' का प्रणयन किया। तत्पश्चात् छठी सदी में अष्टाध्यायी के आलोक में 'काशिका' की रचना की गयी जिसका भाष्य बामन और जयादित्य ने किया था इन समस्त व्याकरण दर्शन से तत्कालीन समाज के विभिन्न पक्षों का दिग्दर्शन होता है।[1]

उपनिषदों में जो सूक्ष्म चिन्तन मिलता है, उसका मूल नासदीय सूक्त मे था । इस सूक्त को लोकमान्य तिलक ने मनुष्य जाति की सबसें बड़ी स्वाधीन चिन्ता कहा हैं । ऐसा लगता है कि जिन तात्विक प्रश्नों को लेकर उपनिषदों में गम्भीर चिन्तन हुआ, जिन्हे लेकर चिन्तन आज भी पर्याप्त अनुशीलन हो रहा है । उन सभी प्रश्नों के बीज इस सूक्त में निहित थे ।

इस सूक्त में यह उल्लेख हुआ है सृष्टि के प्रथम अंन्धकार से अन्धकार ढका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय (वा अभिभक्त) था अविद्यमान वस्तु के द्वारा यह सर्वव्यापी आच्छन था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्व उत्पन्न हुआ। प्रकृत तत्व को कौन जानता है। कौन उसका वर्णन

१– संस्कृति के चार अध्याय – रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ०सं० १२३

करें यह सृष्टि किस उत्पादन कारण से हुई । किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियॉ हुई क्या देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए है ? कहॉ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है ? ये नाना सृष्टियॉ कहॉ से हुई है । किसने सृष्टियॉ की, और किसने नहीं की, यह सब वे ही जाने जो इसके स्वामी परमधाम में रहतें है हो सकता है कि वे यह सब नहीं जानते हो ।

उपनिषद् वेद का अनादर नहीं करते किन्तु   वे मानते है कि वेदों में यज्ञों के जो विधान है, उनसे केवल मनुष्य को नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकतें है । स्वर्ग के विषय में भी उपनिषद् यह मानते है कि स्वर्ग–सुख का भोग जीव तभी कर सकता है जब तक उसका पुण्य शेष है पुण्य समाप्त होते ही उसे फिर जन्म लेना पड़ता है, और फिर उसकी मृत्यु होती है जो दुःख है।[1]

उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति है जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा । मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म लेना न पडे । क्योंकि जन्म से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पडते है सृष्टि के विषय में उपनिषदों का मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन, और वायु इन पॉच तत्वों से बनी हुई है इन पाँच तत्वों का स्वामी महन्तत्व है, जिसमें ये पांचो तत्व विद्यमान रहते है समय पाकर यह महत्तत्व (जिसे हम प्रकृति का मूल तत्व भी कह सकते है) फैलने लगता है । महत्तत्व के इसी फैलाव को हम सृष्टि का जन्म, रचना और विकास कहते है फिर एक समय आता है, जब यह फैलाव सिमटने लगता है और सिमट कर वह महत्तत्व में केन्द्रित हो जाता हैं सिमटने की प्रकिया को

१– संस्कृति के चार अध्याय – रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ०सं० १२६

सृष्टि का विनष्ट होना या प्रलय कहते है। इस बात को समझने के लिए उपनिष्दों में विनष्ट होना या प्रलय कहते है। इस बात को समझने के लिए उपनिष्दों में मकड़े की जाली की उपमा दी जाती हैं। मकड़ें के भीतर से जाली निकलकर चारों ओर छा जाती है यही सृष्टि का बनना है फिर वह जाली सिमटकर मकड़े के भीतर चली जाती हैं यहीं सृष्टि का विनष्ट होना हैं। अब यह प्रश्न उठता हैं कि यह मकडा प्रकृति हैं या ब्रहम? यानि सृष्टि की रचना ब्रहम करता हैं या वह अपने आप से अधिक होती है? इस प्रश्न का उत्तर उपनिष्दों में दो प्रकार से दिया हैं, एक तो यह कि वह मकड़ा ब्रहम ही हैं, और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती हैं दूसरा यह कि मकड़ा असल में प्रकृति के मूल तत्व अथवा महत्तत्व की उपमा हैं ब्रहम सृष्टि की रचना नहीं करता सृष्टि इस महत्तत्व से निकलती हैं और उसी मे वापस चली जाती हैं।[1]

इन्ही दो प्रकारों के उत्तरों से आगे चलकर भारत मे द्वैतवाद और अद्वैतवाद के सिद्धान्त निकले। जिन्होने यह माना कि महत्तत्व तो जड हैं, उससे चेतन सृष्टि कैसे निकल सकती हैं इसलिए सृष्टि की रचना ब्रहम ने की, वे द्वैतवादी हुए इसलिए इसके विपरीत जिनके सामने यह प्रश्न आया कि सृष्टि में अच्छे लोग भी हैं और बुरे लोग भी, पाप भी हैं, और पुण्य भी, सुख भी हैं और दुःख भी फिर यह कैसे माना जाए कि पाप, दुःख और दुराचार भी ब्रहम से ही निकले हैं और ब्रहम में भी दु.ख और पाप का निवास हैं।[2] उन्होने अद्वैतवादी

१— संस्कृति के चार अध्याय — रामधारी सिंह 'दिनकर' पृ०सं० १३०

२— इस शंका का समाधान परमहंस रामकृष्ण यह कहकर करते थे कि बिष सर्प के मुख में रहने पर भी सर्प को असर नहीं करता। इसी प्रकार दुःख और पाप भी ब्रहम में ही है किन्तु ब्रहम पर उनका प्रभाव नहीं ।

मार्ग पकड़ा और यह कहा कि ब्रह्म निराकार, निर्विकार, और चेतन हैं। उसमे किसी प्रकार की भी इच्छा नहीं होती (क्योकि इच्छा का होना भी विकार हैं) सृष्टि प्रकृति के मूल तत्वों से (महत्तत्व) से निकली हैं और वह उसी में समा जाती हैं। जब यह प्रश्न अद्वैतवादियों के सामने आया कि सृष्टि में हम चेतना क्यों देखते हैं तब उन्होने यह कहा कि चेतन स्वरूप केवल ब्रह्म हैं किन्तु उस चेतना से व्याप्त रहने के कारण हमें जड प्रकृति भी चेतन दिखायी देती हैं इससे स्पष्ट हैं कि अद्वैतवाद के बीज वेदों और उपनिषदो में निहित है। यद्यपि उपनिषदों के कुछ स्थलो में द्वैतवाद की ओर संकेत किया गया है तथापि परम्परा से हम उन्हें अद्वैतवादी मानतें आये हैं क्योंकि इन्द्र वरुण, सूर्य, अग्नि आदि दृश्य देवताओं से हटाकर मनुष्यों का ध्यान निराकार ब्रह्म की ओर उपनिषद् ही ले गयें। और उपनिषदों ने ही इस बात को जोर देकर घोषित किया कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं, बल्कि जीवन और मृत्यु के बन्धन से छूटकर मोक्ष पाना अथवा ब्रह्म में लीन हो जाना हैं। वेदों में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ था। उपनिषदों में आकर वह गौड़ हो गया और मुख्यतया आध्यात्म विद्या या आत्म–ज्ञान पर विशेष बल दिया गया ।

उपनिषदों का विचार है कि जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि के कण–कण में व्याप्त हैं। आत्मा और परमात्मा को उपनिषद् एक मानते हैं ।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर पुरोहितों की पंक्ति की कल्पना श्वानों की पंक्ति के रूप में की गयी हैं । जिसमें प्रत्येक पीछे वाला श्वान आगे वाले श्वान की दुम को अपने मुंह में दवायें चलता हैं तथा सब इस मंत्र का

जाप करतें हैं कि 'ओम खाने दो, ओम पीने दो' ? धर्म को साधन बनाकर पुरोहितो का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि कर रहा था ।

प्रत्येक वेद के तीन भाग हैं जिन्हें मत्र संहिता ब्राह्मण और उपनिषद् नामो से जाना जाता हैं ऋचाओं या सूक्तों के सग्रह को संहिता कहते हैं। ब्राह्मणों में उपदेश एवं धार्मिक कर्तव्यों का विधान हैं उपनिषद् एवं आरण्यक ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं, जिसमें दार्शनिक समस्याओं की विवेचना की गयी हैं। उपनिषदों के अन्दर हमे देश की परवर्ती विचारधारा की कुल मानसिक पृष्ठभूमि देखने को मिलती हैं प्राचीन उपनिषदों में से ऐतरेय और कौशीतकि का सम्बन्ध ऋग्वेद से हैं, केन और छाग्दोग्य का साम से ईश तैत्तरीय और बृहदारण्यक का यजुर्वेद से एवं प्रश्न और मुण्डक का अथर्ववेद से हैं एक अन्य स्थान पर उपनिषदों का भाव प्रस्तुत किया गया हैं जिसके अनुसार इच्छा और उसकी पूर्ति से उपर भी एक ऊँची अवस्था हैं जिसे सच्चे अर्थो में 'अमरता' कहा जाता हैं इसी प्रकार की आत्मा इन सब का अन्तिम लक्ष्य हैं। यह सब स्थानो में वर्तमान रहती हैं इसे सब अभिलषित पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, यह इच्छा से मुक्त हैं और इसे सब अभिष्ट पदार्थ प्राप्त हैं, क्योंकि इसे किसी वस्तु का अभाव नहीं।[1]

उपनिषदें नीव के रूप में हैं, जिनके ऊपर बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शन शास्त्रों व धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। हिन्दू विचारधारा का एक भी ऐसा महत्वपूर्ण अंग नहीं हैं जिसमें नास्तिक नामधारी बौद्धमत भी आता हैं जिसका मूल उपनिषदों में न मिलता

१— शतपथ ब्राहमण — वही ६: ६, २, ४

हो, भारत में पुनरुज्जीवित प्रत्येक आदर्शवाद ने अपने उद्गम के लिए उपनिषदों की शिक्षाओं की ओर ही संकेत किया हैं ।

प्रोफेसर जे० एस० मैकेन्जी के अनुसार "उपनिषदों में जो प्रयत्न हमारे सम्मुख रखा गया हैं वह विश्व के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त का सबसे पहला प्रयत्न हैं, और निश्चय ही बहुत रोचक और महत्वपूर्ण हैं।[1] प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक गफ ने अपनी पुस्तक 'फिलासफी आफ उपनिषद्स की प्रस्तावना मे लिखा हैं" :– उपनिषदो के दार्शनिक तत्व का सबसे बडा भाष्यकार शंकर अर्थात् शॅकराचार्य हैं, शकर का अपना उपदेश भी स्वाभविक और उपनिषदो के दार्शनिक तत्व की युक्ति–युक्त व्याख्या हैं।[2]

मैक्समूलर ने भी लिखा हैं। "हमे अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्त का सनातन मत वह नहीं हैं जिसे हम विकास कह सकते हैं, बल्कि 'माया' हैं । ब्रहम का विकास अथवा 'परिणाम' प्राचीन विचार से भिन्न हैं। माया अथवा 'विवर्त' ही सनातन वेदान्त हैं। उपनिषदो का लक्ष्य सत्य की खोज करना हैं, वस्तुओं और उनके गौण कारणों से असंतोष ऐसे प्रश्नो को जन्म देते हैं जो हमें श्वेताश्वर उपनिषद् के शुरु में मिलते हैं। प्रजापति के अनुसार आत्मा वह हैं जो तब दिखायी पड़ती हैं जब तक हम अन्य पुरुष की आंखो में देखते हैं। अथवा पानी भरे पात्र मे या दर्पण में देखने पर जो दिखयी पडता हैं वही आत्मा हैं इनमें प्रस्तुत यज्ञ का रहस्यात्मक विवेचन ब्राहमण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड और उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड के बीच सेतु सरीखा हैं।

१– इंसाइक्लोपीड़िया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स : खण्ड ८ पृ०सं० ५६७, और भी देखिए हूयम 'द थरटीन प्रिसिंपल उपनिषद्स' पृ०सं० २१

२– पंचास्तिकाय समयसार पृ०सं० ८१

उपनिषदे वेद के दार्शनिक प्रणाली चिन्तन की परिणति को प्रस्तुत करती हैं, और वैदिक साहित्य के चरम भाग को भी, इसलिए उन्हें 'वेदान्त' के नाम से भी अभिहित किया गया हैं। दार्शनिक विचार और तत्व चिन्तन के कारण उनका अपना विशिष्ट महत्व हैं। उपनिषदें सामान्यतः आरण्यक के अन्त में हैं और आरण्यक ब्राह्मण के, इसलिए कभी–कभी वे विषय, जो ब्राह्मण में विवेचित होने चाहिए, आरण्यक में और आरण्यक के विषय उपनिषद् में मिल जाते है। अतएव परम्परानुयायी पण्ड़ित वर्ग वेदो को सनातन मानता हैं, फिर भी उपनिषदें जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा की परिणति हैं, वहॉ उनका ज्ञानकाण्ड ब्राह्मण ग्रन्थो के कर्मकाण्ड का विरोधी भी प्रतीत होता हैं। इस सारी समता और भिन्नता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही देखकर समझा जा सकता हैं। वैदिक दार्शनिक चिन्तन स्वाभाविक रुप से पुराकथा और धर्म में अभिब्यक्त हुआ। धर्म का मूलरुप रहस्य से आच्छादित हैं। वैदिक धर्म के बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद हैं।

उपनिषद् सभी भारतीय दर्शनों के मूलस्रोत हैं, जो भारतीय दर्शन वेद प्रामाण्य को मानते हैं। वे सभी उपनिषदों को वेद प्रामाण्य के अर्न्तगत रखते हैं फिर यद्यपि बौद्ध, जैन, और चार्वाक दर्शन, वेद प्रामाण्य को नहीं मानते हैं, तथापि उनके दर्शनों के भी मूल उपनिषदो में हैं।

कुमारिल भट्ट ने दिखलाया हैं कि बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद क्षणभंगवाद, अनात्मवाद तथा वैराग्यवाद उपनिषदों से ही निकले हैं यद्यपि बौद्धों ने वौद्ध दर्शन को उपनिषदों से उत्पन्न नहीं माना हैं, तथापि आधुनिक युग में बौद्ध दर्शन के अनेक विद्वानों ने स्वीकारा हैं कि बौद्ध दर्शन के बीज उपनिषदों में हैं। चार्वाक दर्शन का भौतिकवाद उपनिषद् के दार्शनिक विरोचन का दर्शन हैं

फिर उपनिषदों मे उपस्ति जैसे दार्शनिक हैं जो आत्मा को दृश्य वस्तु के रुप मे देखना चाहते हैं अन्नमय ब्रह्मा की अवधारणा भौतिकवादी हैं।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन के बीज उपनिषदों मे प्रचुर मात्रा में मिलते हैं फिर जैन दर्शन के अनेक सिद्धान्तो का स्रोत उपनिषद् में हैं जैसे सद्दृष्टि, असद्दृष्टि और अवाच्यदृष्टि उपनिषदों में बहुत मिलती हैं जिनको लेकर जैनियों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को विकसित किया हैं फिर उपनिषदों में सत्य, तप, वैराग्य, ब्रहमचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय और अहिंसा के अनेक विवेचन हैं जो जैन आचार शास्त्र के मूल हैं।

षड़दर्शन में वेदान्त के सभी सम्प्रदाय उपनिषदो के साक्षात् विकास हैं, 'तत्त्वम्असि' इस एक वाक्य की व्याख्या विभिन्न वेदान्त सम्प्रदायों ने विभिन्न प्रकार से की हैं ये सभी सम्प्रदाय ब्रहमवादी हैं और जीव, जगत् तथा ब्रहम का विवेचन करते हैं वेदान्त दर्शन का मूल ग्रन्थ 'ब्रहमसूत्र' उपनिषदों के दर्शन का सार प्रस्तुत करता हैं।[1]

सभी दर्शन उपनिषद् दर्शन से विकसित हुए हैं और जो उपनिषदों से नहीं निकला वह दर्शन ही नहीं हैं, यह मान्यता भारत वर्ष में बहुत दिनों तक प्रचलित थी उपनिषद् एक ओर सभी दर्शन के उद्गम स्थल हैं तो दूसरी ओर वे उनके प्रामाण्य की कसौटी भी है। जो दर्शन उपनिषदों में स्थापित हैं वह सत्य हैं, और जो उनसे सत्यापित नहीं हैं वह असत्य हैं यही नहीं, जो सत् उपनिषद् गम्य हैं वही सत् हैं, जिज्ञास्य हैं और जो अनौपनिषदिक हैं वह असत्

१– वेदान्त वाक्य कुसुम ग्रन्थनार्थत्वात् सूत्राणाम्।

— शॅकराचार्य शारीरिक भाष्य १/१/२

हैं हेय है, यह मान्यता उपनिषद् काल में इतनी मान्य हो चली थी, कि उस काल में दार्शनिक एकमात्र औपनिषद् पुरुष (मूलतत्व) को ही जानना चाहते थे।
तं त्यौपनिषद् पुरूषं पृच्छामि।[1]

भारतीय दर्शन मे चार्वाक दर्शन विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन के रूप में जाना जाता हैं, इसे लोकायत के नाम से भी जाना जाता हैं भौतिकवादी दर्शन उस को कहते हैं जिसके अनुसार विश्व का मूलभूत तत्व से भिन्न एक या अनेक रूप जडात्मक हैं। भौतिकवादी जडतत्व से भिन्न किसी चेतन तत्व को स्वीकार नहीं करते, चार्वाक नास्तिक दर्शन भी हैं परम्परानुसार नास्तिक उसे कहा जाता हैं जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानता।[2] पाणिनि ने एक सूक्त में आस्तिक नास्तिक की परिभाषा दी हैं।

उसके अनुसार परलोक को मानने वाला आस्तिक हैं और न मानने वाला नास्तिक[3] संसार के अधिकांश दर्शनों में नास्तिक का अर्थ अनीश्वरवादी होता हैं, चार्वाक मत उक्त तीनों अर्थो में नास्तिक हैं, सॉख्य दर्शन वेद को मानता है किन्तु ईश्वर को नहीं। जैन और बौद्ध वेद और ईश्वर दोनों को नहीं मानते किन्तु परलोक को मानते है चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष का लक्षण कैसे करता हैं यह ज्ञात नहीं चूँकि चार्वाक अनुमान या अन्य को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह अनुमान से सिद्ध होने वाले ईश्वर, आत्मा, परलोक, आदि को भी नहीं मानता ।

१– बृहदारण्यक उपनिषद् ३ , ६ , २६

२– नास्तिको वेदनिन्दकः। मनुस्मृति २ / ११

३– अस्ति–नास्तिदिष्टंमतिः अष्टाध्यायी ४ / ४ / ६०

इस प्रकार ब्राह्मण और श्रमण दोनों परम्पराओ में दर्शन का एक ही लक्षण किया गया हैं यद्यपि यहाँ अनेक दार्शनिक हुए हैं और उनके दर्शनों में पर्याप्त भेद हैं तथापि उन सबों ने दर्शन का एक ही लक्षण माना हैं इस प्रसंग में शंकराचार्य, पंञ्चशिख, का कहना बहुत कठिन हैं।**'एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्''** ।

अर्थात् एक ही दर्शन हैं ख्याति (ज्ञान) ही दर्शन है, यहाँ सभी दार्शनिकों ने एक ही दृष्टि दी हैं जिसके द्वारा सभी वस्तुओं को देखा जा सकता हैं।[1]

भारत में रहने वाले बहुत से भारतीय जो ईसाई या मुसलमान हैं, आज भी यह मानते हैं कि भारतीय दर्शन हिन्दू दर्शन हैं उनकी यह मान्यता निर्मूल हैं और उनके अज्ञान का द्योतक हैं भारतीय दर्शन के अर्न्तगत श्रमण परम्परा हैं इस परम्परा में चार्वाक, जैन, एव बौद्ध दर्शन आते है यह परम्परा वेद विरोधी हैं हिन्दू दर्शन की परम्परा वेद पोषक हैं इससे स्पष्ट हैं कि भारतीय दर्शन हिन्दू दर्शन नहीं हैं इसका सम्बन्ध किसी धर्म विशेष से नहीं हैं यह स्वतन्त्र चिन्तन और अनुभूति की परम्परा हैं इससे धर्म निकला हैं यह धर्म से नहीं।

प्रायः लोग कहते हैं कि भारतीय दर्शन ईश्वरवादी हैं बहुत कम लोग जानते हैं कि भारत में निरीश्वरवादी और अज्ञयेवादी दार्शनिक हुए हैं और ईश्वरवादी दार्शनिकों से किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। श्रमण परम्परा तो बिल्कुल निरीश्वरवादी हैं। ब्राह्मण परम्परा या हिन्दू दर्शन में भी सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा निरीश्वरवादी या अज्ञयेवादी हैं।

१— दृष्टब्य मज्झिमनिकाय २ / ३ / ६ ''राहुल सॉकृत्यायन का अनुवाद''

बौद्ध धर्म का उद्भव एवं विकास

महात्माबुद्ध का जीवन चरित्र -

महात्माबुद्ध के जन्म के समय का नाम सिद्धार्थ एवं गौतम था इतिहासकारों के मतानुसार इन्होने लगभग ई० पू० ५६३ में जन्म ग्रहण किया, इनका जन्म कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन मे हुआ था यह स्थान आजकल नेपाल राज्य के अर्न्तगत भारत की सीमा से ५ मील की दूरी पर स्थित हैं यही पर अशोक का एक अभिलेखयुक्त स्तम्भ हैं जिसमें लिखा हैं 'हिन्द वुधे जातेति'। इनकी माता का नाम मायादेवी तथा पिता का नाम शुद्धोदन था उन दिनों कपिलवस्तु शाक्यवशी क्षत्रियों का गणराज्य था और शुद्धोदन इसके राजा थे महात्मा वुद्ध ने शाक्यवंशी क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था अतः इनको शाक्यमुनि भी कहा जाता था जन्म के समय ही इनकी माता का देहान्त हो गया और इनकी मातृषसा (मौसी) महाप्रजापति गौतमी ने इनका पालन पोषण किया। १६ वर्ष तक राजकुमार सिद्धार्थ ने क्षत्रियोंचित शिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् यशोधरा नामक पत्नी का स्वंयवर में वरण किया। तीन वर्षो तक राज–पाट के विपुल वैभव का आनन्द लेते रहें राहुल नामक पुत्र–रत्न भी प्राप्त किया ।

परन्तु जन्म से ही गौतम बड़े शान्त प्रकृति के पुरुष थे तथा विरक्त भाव से रहा करते थे एकान्तवास में अधिक अभिरुचि रखते थे अतः राजकीय भोग इन्हें रोग के समान प्रतीत होता था संसार इन्हें असार प्रतीत होता था इनके पिता ने सांसारिक भोग की सभी सामग्रियों को इकट्ठा कर इन्हें कुशल राजकुमार बनाना चाहते थे शीत, ताप, वर्षा काल के लिए अलग–अलग भवनों का निर्माण किया गया तथा इन भवनों को सांसारिक भोग से पूर्ण किया गया

परन्तु परमार्थ में आनन्द लेने वाले गौतम को ससार का आकर्षण स्पर्श न कर सका। ये सर्वदा उदासीन रहा करते थे, इनका उदासीन रहना पिता के लिए चिन्ता का विषय बन गया, एक दिन मन बहलाने के लिए इन्हे स्वर्ण सुसज्जित रथ पर नगर मे घुमाया गया घूमते हुए अचानक इनकी दृष्टि एक वृद्ध एक रोगी तथा मृतक शव पर पडी इन्हें देखकर राजकुमार का हृदय द्रवीभूत हो गया वृद्ध रोगी और शव के रूप मे उन्होने संसार का सच्चा स्वरूप देखा और विचार करने लगे हम जीते हैं मरने के लिए, जवान हैं बूढा होने के लिए, स्वस्थ हैं रोगी होने के लिए, इस जीवन स्वास्थ्य और यौवन का अन्त केवल मृत्यु रोग और वार्धक्य हैं कृतिम संसार का वास्तविक रूप यही हैं क्षणिक सुख में इठलाता हुआ मानव वस्तुतः भीतर से रोगी हैं ससार का बाहय सुख तो चिरन्तन दुःख की नीवं पर टिका हैं, जीवन और यौवन की स्मृति रेखा के नीचे मृत्यु और बुढापा का भीषण उपहास हैं, शव के सत्य पर जीवन का मिथ्या नर्तन हो रहा हैं।

महा-अभिनिष्क्रमण -

उन्नीस वर्ष की अवस्था मे सिद्धार्थ या गौतम ने गृहत्याग किया, क्षणिक संसार से विदा लेकर चिरन्तन सत्य की खोज में जरा–मरण का निदान ढूंढने के लिए निकल पड़े। इस गृहत्याग का नाम ही अभिनिष्क्रमण या महायात्रा हैं यात्रा या अभिनिष्क्रमण तो बराबर हुआ करता है, परन्तु जिस यात्रा के बाद मनुष्य लौटता नहीं वह महायात्रा (मृत्यु) महाअभिनिष्क्रमण कहलाती हैं सिद्धार्थ को सत्य की खोज किये बिना पुनः घर नहीं आना था अतः उनकी यात्रा महायात्रा या अभिनिष्क्रमण कहलाती हैं सुशीला और सुन्दर पत्नी यशोधरा का प्रेम नवजात् पुत्ररत्न राहुल का वात्सल्य और राजकीय विलास उनके साधना

मार्ग मे बाधक थे अतः कामिनी, कनक, और कीर्ति की कामनाओं का सर्वथा परित्याग कर वे पूर्णतः विरक्त सभी सांसारिक श्रखलाओं को तोडकर संन्यासी हो गये सिद्धार्थ सत्य की साधना में सलग्न हो गये तथा सनातन सत्यो पर ही मनन करने वाले मुनि का वेश बनाकर अर्थात् शाक्यमुनि होकर सच्चे गुरु की खोज में इतस्ततः घूमने लगे यही शाक्यमुनि का 'आर्यपर्येषणा' काल कहलाता हैं। छ. वर्षो तक भटकते रहें । आलार कलाम और उद्धक रामपुत्र आदि प्रसिद्ध गुरूओं से ध्यान–योग की शिक्षा ली परन्तु इससे वे सन्तुष्ट न हुए। घूमते घूमते वे गया में उरुवेला के निकट निरंञ्जना नदी के तट पर एक पीपल वृक्ष के नीचे स्थिर भाव से बैठकर ध्यान में लग गयें, समाधिस्थ हों गयें यही भगवान बुद्ध का 'सम्बोधि काल' कहलाता हैं, इस अवस्था में भगवान छः वर्षे तक समाधिस्थ रहें अन्त में उनकी ऑखे खुली, ज्ञान प्राप्त हुआ, वोधिलाभ हुआ। एक रात्रि के प्रथम याम में अपने विगत जन्मों के इतिहास को देखा, मध्यम याम में दिब्य–चक्षु प्राप्त कर द्वादश निदान (प्रतीत्य–समुत्पाद) का ज्ञान प्राप्त किया। यह समस्त घटना बैशाख की पूर्णिमा के दिन घटी, अब गौतम बुद्ध हो गये, स्थान बोध हो गया और पीपल का वृक्ष बोधिवृक्ष कहलाने लगा।

<u>बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त -</u>

महात्मा बुद्ध के मूलभूत उपदेश चार आर्यसत्य हैं इन आर्यसत्यों में दूसरा आर्यसत्य दुःख समुदाय हैं जो प्रतीत्य–समुत्पाद का सिद्धान्त कहलाता हैं यह सिद्धान्त अन्य सभी दार्शनिक विचारों का आधार हैं। अनित्यवाद और अनात्मवाद दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतीत्य समुत्पाद से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं प्रतीत्य समुत्पाद को ही कार्य–कारण सिद्धान्त भी कहते हैं यह कार्य–कारण सिद्धान्त ही सॉसारिक वस्तुओं की अनित्यता सभी धर्मो की क्षणभंगुरता प्रमाणित

करता हैं कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता हैं तथा कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव हो जाता हैं अत- सभी वस्तुए कारणोत्पन्न है तथा उत्पन्न होने से विनाशी हैं उत्पत्ति और विनाश से सभी वस्तुए अनित्य सिद्ध होती हैं। जन्म और मरण संसार का स्वभाव हैं यहॅा कोई वस्तु नित्य नहीं सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं।'१'

क्षणिकवाद का तात्पर्य हैं कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व सनातन नहीं किसी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक ही रहता हैं जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता हैं दूसरा–तीसरे को, तीसरा–चौथे को, उसी प्रकार एक क्षण दूसरे को तथा दूसरा तीसरे को जन्म देता हैं वही प्रवाह नित्यता हैं क्षणिक–संतान हैं इसी प्रवाह नित्यता या संतान को ही हम भ्रमवश सनातन या शाश्वत मान लेते हैं, वास्तव में कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं सभी अनित्य क्षणिक हैं, परिणामी हैं परिणाम या परिवर्तन वस्तु का स्वभाव हैं वस्तु में क्षणप्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता हैं जो आज हैं वह कल नहीं कल का स्वरुप दूसरा होगा नदी के प्रवाह की भॉति सभी वस्तु सतत् परिर्वतन की अवस्था में हैं।

क्षणिकवाद बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त हैं। यह नित्य या शाश्वतवाद का विरोधी सिद्धान्त हैं आस्तिक दर्शन में आत्मा इत्यादि को नित्य माना गया हैं बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानकर पूर्णतः क्षणिकवाद का प्रतिपादन करता हैं।

१– अस्मिन् सति इदं भवति, अस्मिन् असति इदं न भवति। विसुद्धिमग्ग १६/११
– डा० बी० एन० सिंह पृ०सं० २६६

अनात्मवाद -

आत्मवाद आस्तिक दर्शनों की आधारशिला हैं ब्राह्मण दर्शन में आत्मा नित्य कूटस्थ, अचल, ध्रुव, माना गया हैं परिणाम (परिर्वतन) शरीर का धर्म है। अपरिणामी आत्मा का नहीं नित्य आत्मा की सत्ता स्वीकार करने मे अनेकों तर्क हैं जैसे जन्म और मृत्यु की व्याख्या आत्मा की नित्यता के बिना सम्भव नहीं, नित्य आत्मा ही एक शरीर का त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता हैं शरीर में भी विभिन्न परिर्वतन होते रहते हैं बाल्यावस्था, युवावस्था, इत्यादि इन अवस्थाओ में परिर्वतन होने पर भी व्यक्ति एक ही रहता हैं ब्राह्मण दर्शनो में आत्मा को परम् सत् अविनाशी मानकर आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का वेद में उपदेश किया गया हैं आत्मा ही परम प्रिय वस्तु हैं तथा अन्य जो भी प्रिय वस्तु संसार में हैं वे सभी आत्मा के कारण ही प्रिय हैं आत्मा ही कामनाओ का आधार हैं ।

मोक्ष या निर्वाण के लिए आवश्यक हैं कि मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करें, यदि हम सांसारिक विषयों के प्रति कामना का त्याग करते हैं परन्तु नित्य कामना का त्याग नहीं करते तो हमें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी आत्म–वासना का परिहास करते हुए तथागत ने ब़तलाया कि असद् आत्मा में लीन रहना तो किसी अज्ञात् रमणी से प्रेम करना हैं, जिसको कभी किसी ने देखा ही नहीं हों।

भगवान बुद्ध के अनुसार आत्मवाद सत्काय–दृष्टि हैं नित्य और अपरिणामी आत्मा को स्वीकार करना ही सत्काय–दृष्टि हैं जब तक सत्काय–दृष्टि रहेंगी तब तक निर्वेद या निर्वाण नहीं मिल सकता। अनित्य (क्षणिक) को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता हैं, दुःख को देखने से मनुष्य

की कामनायें शुद्ध हो जाती हैं। तथा अनात्म को देखने से उसकी दृष्टि सम्बन्धी आसक्ति दूर होती हैं।[1]

पंञ्चस्कन्ध -

रूप, स्कन्ध, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार महाभूत तथा इनसे उत्पन्न सभी रूप स्कन्ध कहलाते हैं हड्डी, स्नायु, मांस, और चर्म से घिरा आकाश ही रूप कहलाता है वेदना स्कन्ध–सुख, दुःख और न सुख–दुःख, इन तीन प्रकार की अनुभूतियों को वेदना कहते हैं अनुकूल अनुभव करना सुखात्मक वेदना हैं प्रतिकूल अनुभव करना दु खात्मक हैं तथा न अनुकूल और न प्रतिकूल ही अनुभव करना अ–दु:खः सुखात्मक वेदना हैं व्यक्ति इन अनुभूतियों का पुञ्ज हैं यही वेदना स्कन्ध हैं।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय -

हीनयान और महायान -

भगवान बुद्ध के जीवनकाल में बौद्ध धर्म का कोई भी सम्प्रदाय नहीं था भगवान बुद्ध ने सम्पूर्ण मानव जाति के जन्म और मरण का निदान बतलाया उनके अनुपम निदान को किसी देश, काल, सम्प्रदाय या वाद के सूत्रों में नहीं बॉधा जा सकता अतः भगवान बुद्ध के उपदेश शाश्वत सत्य हैं जो सम्प्रदाय और समय की परिधि से परे हैं परन्तु भगवान बुद्ध के निर्वाणवाद अन्य धर्मो के समान बौद्ध–धर्म में भी सम्प्रदाय का जन्म होने लगा भगवान बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध–धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए भारत में अनेक केन्द्र स्थापित हो

१– अनत्ततो यस्सन्तस्स पिट्टि समुग्धाटनं नामं होति अनिच्यतो यस्सतस्य नाम होति। यटिसम्भिदामग्ग। विसुद्धिमग्ग २४/८६, –डा० बी० एन० सिंह पृ०सं० २७१

गये थे परन्तु तथागत के परिनिर्वाण के बाद सभी केन्द्र सम्प्रदाय हो गये सभी केन्द्रों में धार्मिक विषयों को लेकर भिक्षुओं में वाद–विवाद होने लगा। तथागत का मूल तात्पर्य क्या था, इस प्रश्न पर भिक्षुक एक मत नहीं थे अनेक व्याख्याये होने लगी आज बौद्ध–धर्म मे अनेक सम्प्रदाय हैं उदाहरणार्य स्थविरवाद। यह सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय हैं बौद्ध–धर्म के दो सम्प्रदाय हैं हीनयान तथा महायान। ये दोनो सम्प्रदाय संसार के अनेक देशो मे विद्यमान हैं हीनयान धर्म, लंका, बर्मा, थाइलैण्ड आदि देशो में प्रचलित हैं महायान धर्म जापान, कोरिया, आदि देशों में हैं। हीनयान और महायान कि ऐतिहासिक स्वरूपों की विवेचना करते हुए प्रसिद्ध आचार्य असंग अपने 'महायानाभिधर्मसंगीत शास्त्र' में महायान की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया हैं।

१ महायान महान विशाल हैं, क्योकि सभी जीवों की मुक्ति का विधान हैं।

२ महायान में प्राणिमात्र की सुरक्षा का संदेश हैं।

३ वोधिप्राप्त करना ही महायान का लक्ष्य हैं।

४ महायान का आदर्श 'वोधिसत्व' हैं जो सभी जीवों के कल्याण में रत रहता हैं।

५ महायान धर्म में वोधिसत्व के लिए दस भूमियों का विधान हैं।

६ महायान के अनुसार भगवान बुद्ध सभी मनुष्यो की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ हैं। '१'

हीनयान और महायान में भेद -

हीनयान धर्म बौद्ध धर्म का प्राचीनतम रूप हैं हीनयान का शाब्दिक अर्थ

१– (क) सुजुकी आउट लाइन्स आफ बुद्धिज्म पृ०सं० ६२–६५ ।

(ख) भरतसिंह उपाध्याय बौद्धदर्शन पृ०सं० ५६२–डा० बी०एन० सिंह पृ०सं०२७७

छोटी गाडी या लघुपन्थ हैं वस्तुत यह नाम महायानी आचार्यो का दिया हुआ हैं हीनयान में व्यक्तिगत निर्वाण पर बल दिया गया हैं परन्तु महायान मे सामूहिक या सामाजिक जनकल्याण पर। महायान वृहत्–मार्ग या बडी गाडी कहलाता हैं इस प्रकार व्यक्ति और समष्टि का निर्वाण ही दोनों सम्प्रदाय का मौलिक भेद हैं।

हीनयान के अनुसार व्यक्ति को निजी मोक्ष के लिए प्रयास करना चाहिए, परन्तु महायान के अनुसार यह मोक्ष की अवधारणा संकुचित हैं तथा इसमें स्वार्थपरता हैं[1]। वस्तुतः बुद्ध के उपदेश सभी को मुक्त कराने के लिए हैं अतः हीनयान स्वार्थ तथा महायान परार्थ की भावन से अभिभूत हैं हीनयान का चरम आदर्श 'अर्हत' पद की प्राप्ति हैं व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करने वाला साधक अर्हत हैं। परन्तु महायान का आदर्श वोधिसत्व हैं वोधिसत्व वह महाप्राणी हैं, जो व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं करता, जब तक विश्व के सभी प्राणी मुक्ति न हो जाए । अत वह पर–मुक्ति के लिए आत्म–मुक्ति की अवहेलना करता हैं व्यकितगत निर्वाण तो वोधिसत्व के लिए क्षुद्र स्वार्थ हैं परमार्थ के लिए स्वार्थ त्याग ही उसका आदर्श हैं वोधिसत्व संकल्प करता हैं कि मैं परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा, जब तक विश्व के अन्य प्राणी विमुक्ति न प्राप्त कर लें।[2]

लोक कल्याण तथा सामाजिक सेवा की भावना महायान में अधिक हैं दीन–दुःखी प्राणियों की सेवा से बढकर कोई धर्म नहीं। महायान के अनुसार अन्य प्राणियों की सेवा करना ही सच्चा धर्म है समाज सेवा के लिए वोधिसत्व

१– बौद्ध धर्म का विकास – गोबिन्द चन्द पाण्डेय – पृ०सं० ३०३–३०४

२– लंकावतार सूत्र ६६ / ६ – डा० बी०एन० सिंह पृ०सं० २८०

व्यक्तिगत निर्वाण का तिरस्कार करता हैं महायान का विशेष सिद्धान्त त्रिकायवाद हैं जो हीनयान मे नहीं के बराबर हैं हीनयान के अनुसार महात्मा बुद्ध एक मरणधर्मा मनुष्य ही थे महायानी आचार्यो के अनुसार महात्मा बुद्ध के तीन शरीर हैं निर्माणकाय, धर्म–काय और सम्भोग–काय निर्माणकाय निर्मित काया हैं।

महायान भक्ति प्रधान धर्म हैं जिसका हीनयान में अभाव हैं हीनयान के अनीश्वरवादी तथागत महायान मे भगवान बुद्ध बनकर ईश्वर के रूप मे पूज्य माने गये हैं।

<u>हीनयान के सम्प्रदाय -</u>

<u>स्थविरवाद -</u>

यह सबसे प्राचीन निकाय हैं इसका दूसरा नाम घेरवाद हैं निकाय संग्रह से पता चलता हैं कि तीसरी संगीति के वाद अवन्ति और विदिशा से दक्षिण–पश्चिम की ओर स्थविरों का प्रसार था स्थविरवाद के अनुसार व्यक्ति दो अवस्थाओं का पुञ्ज हैं, शारीरिक और मानसिक। इन दोनों अवस्थाओ को नाम रूप कहते हैं स्थूल पुञ्ज रूप हैं और सूक्षम पुञ्ज नाम हैं नाम चार अवस्थाओं में विभक्त है वेदना, संज्ञा, ससार और विज्ञान। यही व्यक्ति की नाम रूपात्मक प्रतीति हैं यह नामरूपात्मक व्यक्ति, अनित्य, क्षणिक और अनात्म हैं हीनयान के अन्य सम्प्रदायों में सर्वास्तिवाद, महासॅाघिक, वैभाषिक सम्प्रदाय, सौत्रान्तिक सम्प्रदाय, आदि हैं।

<u>महायान का उद्‌गम और साहित्य -</u>

महायान का उद्‌गम वस्तुतः बौद्धधर्म की दूसरी संगीत में ही हुआ इस संगीति के समय कुछ भिक्षु विनय में शिथिल और अर्हतों के आलोचक थे ये

ही महासाँघिक कहलाये यही महायान का बीजरूप हैं चतुर्थ संगीति (महाराज कनिष्क) के समय महायान का पूर्ण विकास हो चुका था। महायान साहित्य के तीन काल हैं बीजकाल, सूत्रकाल, और शास्त्रकाल। महायान सम्प्रदायों की राचनाओ का प्रारम्भ बुद्ध की जीवनी से हैं। बुद्धत्व लाभ करने के बाद महात्मा बुद्ध वोंधिसत्व बने। महाकरूणा से प्रेरित होकर उन्होने सबको बुद्धत्व का मार्ग बतलाना प्रारभ किया यदि तथागत सबको बुद्ध बनाना न चाहते, यदि स्वयँ बुद्धत्व लाभ कर अर्हत बनकर सतुष्ट हो जाते तो धर्म प्रचार नहीं करते।यही महायान का आधार हैं ।

महायान के अनुसार भगवान का धर्म प्रचार करना ही यह बतलाता हैं कि वे अपने व्यक्तिगत निर्वाण से सन्तुष्ट नहीं थे वे सभी व्यक्तियों को निर्वाण का लाभ कराना चाहते थे यही तथागत का वोधिसत्व रूप हैं बुद्ध का वोधिसत्व रूप महायान का आदर्श हैं इसलिए महायान ने दूसरे को हीनयान कहा हैं हीनयान का आदर्श अर्हत् पद की प्राप्ति हैं । अर्हत् सभी आस्रवो को क्षीणकर निर्वाण की प्राप्ति से सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु वोधिसत्व का लक्ष्य वोधिया बुद्ध ज्ञान की प्राप्ति करना हैं बुद्ध ज्ञान निर्वाण ये उच्च हैं इसे सम्यक् संवोधि कहा गया हैं क्योंकि बुद्धत्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना ही वोधिसत्वो का लक्ष्य हैं यह पूर्ण ज्ञान पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति का परिचायक हैं महायान के अनुसार साधकपूर्ण आध्यात्मिक स्थिति को तब प्राप्त करता हैं जब वह व्यक्तिगत निर्वाण का निषेध कर समष्टिगत निर्वाण के लिए प्रयत्न करता हैं संसार में दीन–दुःखियों की सेवा कर वह ससार को दुःख मुक्त करना चाहाता है।[1]

१– बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन –

भरतसिंह उपाध्याय पृ०सं० ६०६ – डा० बी०एन० सिंह पृ०सं०२६३

महायानियों का कहना हैं कि अनेक हीनयानी ग्रन्थों मे महायान के बीज उपलब्ध हैं महायान सूत्रों के पहले भी सूत्रपिटक और विनयपिटक के अतिरिक्त संयुक्तपिटक, वोधिसत्वपिटक तथा धारणीपिटक आदि ग्रन्थ थे। ये ग्रन्थ महासंघिको के माने जाते हैं और महासॉघिक महायान के पूर्वरूप हैं।

महायान बौद्ध दर्शन के दो महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है माध्यमिक (शून्यवाद) और योगाचार (विज्ञानवाद) शून्यवाद के अनुयायी माध्यमिक कहलाते है तथा विज्ञानवाद के अनुयायी 'योगाचार' कहे जाते हैं इस सम्प्रदाय का 'योगाचार' नाम संभवतः इसलिए हैं कि इसमें योगचर्या का विशेष महत्व माना गया हैं।

विज्ञानवाद के प्रसिद्ध आचार्य तथा उनकी कृतियॉ प्रायः विद्धान आचार्य असंग को विज्ञानवाद का मूल प्रवर्तक मानते हैं विज्ञानवाद (विज्ञप्तिमात्रता) विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता हैं अर्थात् विज्ञान ही सत् हैं वस्तु या व्यवहार जगत् विज्ञान रूप ही हैं अनुभव के आधार पर सम्पूर्ण जगत को दो भाग में विभाजित किया जा सकता है ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञेय वस्तु हैं जिसका हमें ज्ञान होता हैं यह ज्ञेय (वस्तु) जगत् भ्रमवश हमारे ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता हैं यथार्थरूप में यह ज्ञेय ज्ञान से अभिन्न हैं ज्ञेय (वस्तु) की स्वतन्त्र सत्ता तो मिथ्या हैं ज्ञान ही ज्ञेय रूप में प्रतीत होता हैं यही विज्ञप्ति—मात्रता हैं। ज्ञानविज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त, मन, आदि सभी पर्यायवाची हैं विज्ञानवाद के अनुसार केवल इन्हीं की सत्ता हैं, अर्थात केवल विज्ञप्तिमात्रता ही है।

विज्ञानवादी दार्शनिकों के अनुसार वाह्य—वस्तु तो आंतरिक विज्ञान हैं तात्पर्य यह हैं कि वस्तु विज्ञान रूप ही हैं 'सहोपलम्भ' नियम के अनुसार वस्तु और विज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं अतः वस्तु विज्ञानरूप ही हैं यही

विज्ञप्तिमात्रता हैं यथार्थ मे विज्ञान ही एकमात्र तत्व हैं यह विज्ञान निर्विकल्प ज्ञान हैं सविकल्प ज्ञान के द्वारा हम विषय और विषयी का द्वैत प्राप्त करते है निर्विकल्प ज्ञान ही हमें अद्वैत विशुद्ध विज्ञानमात्र (विज्ञप्तिमात्र) को बतलाता है निर्विकल्प ज्ञान का विषय होने के कारण यह अनिर्वचनीय हैं इसे ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में नहीं जाना जा सकता । ज्ञाता और ज्ञेय तो इस विशुद्ध विज्ञान के परिणाम हैं अर्थात जीव और जगत् इसके परिणाम हैं एक ही विशुद्ध विज्ञान ज्ञाता (जीव) रूप में तथा ज्ञेय (जगत्) रूप मे दिखलायी पडता हैं एक ही विज्ञान अनादि वासना के कारण विविध परिणामों में रूप मे दिखलायी पड़ता हैं।

अचार्य वसुवंन्धु की विज्ञप्तिमात्रता के दो निष्कर्ष हैं – विज्ञान का मडन और विज्ञेय (वस्तु) का खण्डन। यथार्थ में ये दोनों निष्कर्ष एक दूसरे के पूरक हैं ।

अन्त में वसुवन्धु के मतानुसार विज्ञप्तिमात्र तत्व विशुद्ध विज्ञान है यह निर्विकल्प तत्व केवल अपनी अनुभूति से ही जाना जा सकता हैं यह अनिर्वचनीय तत्व बुद्धि द्वारा वर्णनीय नहीं हैं यह स्वानुभूतिगम्य हैं।[1]

१– विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशीमया।

कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्यां बद्धगोचरः।।

– 'बसुबन्धु, विशंतिकाकारिका २२ – डा० बी०एन० सिंह पृ०सं० ३०४

श्रमण परम्परा -

बौद्ध साहित्य से भी स्पष्ट और निर्मित होता हैं तथा इससे हिन्दू समाज के पूर्ववर्ती और परवर्ती जीवन का दिग्दर्शन होता हैं इसमे जातको का सर्वप्रथम स्थान हैं जिनकी रचना प्रायः ई० पू० पहली सदी में हो चुकी थी इसकी पुष्टि सांची और भरहुत के स्तूपो पर अकित कथाओं से होती है उसमें जातक कथाओं के दृश्य चित्रित हैं जातको की सख्या लगभग ५४६ हैं जातको में बुद्ध के पूर्वजन्मो की कथायें विवृत हैं तथा उसी माध्यम से जीवन के विविध पक्षों का चित्रण किया गया हैं ये कथाये कल्पित अवश्य हैं किन्तु इनसे सामाजिक और धार्मिक अवस्था का विवरण मिलता हैं त्रिपिटक बौद्ध धर्म का आधारभूत साहित्य हैं जिसके माध्यम से समाज और धर्म का चित्र उभरता हैं तथा सामाजिक और धार्मिक इतिहास का निर्माण होता हैं भगवान बुद्ध के धर्म सम्बन्धी, निर्देश, वचन, और सिद्धान्त त्रिपिटक में संग्रहीत हैं ।[1]

त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटक (पेटारीया समूह) हैं

१ सुत्तपिटक, २ अभिधम्यपिटक, ३ विनयपिटक

उस क्रान्ति का यह रूप कि वैदिक ब्राह्मण, हिंसा पूरित यज्ञ को धर्म का कृत्य समझते थे किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा सबसे उत्तम यज्ञ वह हैं जिसमें किसी भी जीव की हत्या नहीं होती । प्रत्युत् जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपना जीवन परोपकार में लगा देता हैं जैन ग्रन्थों में प्रायः श्रीकृष्ण जैन माने गये है और उनके गुरू का नाम नेमिनाथ बताया गया हैं ।[2]

१— प्राचीन भारत सामाजिक इतिहास — डा० जयशंकर मिश्र पृ०सं० ७

२— डा० राधाकृष्णन भाग १ पृ०सं० ५१

प्राग्वैदिक परम्परा के प्रभाव से अहिंसा धर्म और अहिंसक यज्ञ की कल्पना भारत मे बुद्ध से पहले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्तक घोर अगिंरस और ऋषभदेव थे ।

पुराणों मे ऋषियों की देह पर बाल्मीक बन जाने की कथा मिलती हैं वह रूक्षता ही थी पानी की बूंद तक पर भी दया करने को जुगुप्सा कहते थे अर्थात् जुगुप्सा का अर्थ था हिंसा का पूर्णरूपेण तिरस्कार और वनों मे अकेले रहने को प्रविविक्तता कहते थे।

इस तरह स्पष्ट प्रतीत होता हैं कि अहिसां को परमधर्म लोग उस समय भी मानते थे किन्तु उसका प्रचलन ग्रहस्थों मे कम तपस्वियों में अधिक था ऐसे तपस्वी बुद्ध के पूर्व अधिक संख्या में विद्यमान थे पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्याम् सम्बर–सवांद कहते थे ये चातुर्याम् सम्बाद थे ये मुख्यत १ हिंसा का त्याग, २ असत्य का त्याग, ३ स्तेय का त्याग, ४, परिग्रह का त्याग।

वेद मानव मस्तिष्क से प्रादुर्भूत ऐसे नितात्त आदिकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं।

विल्सन के अनुसार "जब ऋग्वेद और यजुर्वेद की मूल संहिताए पूर्ण हो जायेगी उस समय हमारे पास इतनी पर्याप्त सामग्री हो जायेगी कि हम उससे जाने वाले निष्कर्षो का सही–सही मूल्यांकन कर सकेगें।

इनमें प्रथम दो पिटकों में भगवान बुद्ध के मूल वचन और उपदेश लिपिबद्ध हैं सुत्तपिटक में पॉच–निकाय हैं दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, और खुद्धकनिकाय। बिनयपिटक में बौद्ध संघ से सम्बन्धित भिक्षु–भिक्षुणियों की आचार–संहिता विवृत हैं अभिधम्य पिटक में बौद्ध

धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन हैं इसकी रचना बुद्ध की मृत्यु के बहुत बाद में की गयी थी।

लका के पालि भाषा में रचित 'महावंश' ओर दीपवंश ऐसे महाकाव्य हैं जिनसे भारतीय समाज, धर्म और सॅस्कृति पर नवीन प्रकाश पडता हैं चुल्लवग्ग, महावग्ग, पातिमोक्ख सुत्तविभंग और परिवार नामक बौद्ध ग्रन्थों मे भिक्षु–भिक्षुणियो के आचरण और नियमों का उल्लेख हैं।

संस्कृति में आत्मसात् की क्षमता :-

प्राचीन भारतीय संस्कृति का विस्तार बहुत बडा था उसकी सामाजिक संस्थाए बन्धन हीन और उन्मुक्त थी उसके सदस्यो में ग्रहण करने की अपार क्षमता थी समय और परिस्थिति के अनुसार वे अपने को तदनुकूल कर लेते थे फलस्वरूप समयानुसार भारतीय समाज के आदर्शो, व्यवहारों, नियमों, सामाजिक, विचारों, आदि में परिवर्तन होते रहें। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन आदर्शो और आचारों का आकलन हुआ। पूर्व वैदिक युग से लेकर बारहवीं सदी तक देश में होने वाले विविध परिवर्तनों का समावेश भारतीय संस्कृति में हुआ हैं पूर्व वैदिक काल जो धर्मनिर्माण की स्थिति में था जो उत्तर काल में अत्यन्त विकसित हुआ।[1]

विभिन्न धार्मिक संस्थाए अनेकानेक शाखाओं और सम्प्रदायों में प्रस्फुटित हुई प्रारम्भिक वेद कालीन आर्थिक जीवन परवर्ती काल में अत्यधिक उन्नत और पुष्ट हुआ ।

१– प्राचीन भारत सामाजिक इतिहास – डा० जयशंकर मिश्र पृ०सं० १७

भारतीय संस्कृति में आत्मसात् और ग्रहण करने की क्षमता इतनी प्रबल थी कि समाज में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को वह स्वीकार करती चलती थी।

सँस्कृति की धार्मिकता -

भारतीय संस्कृति का आधार धार्मिक प्रवृत्ति हैं जिससे मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता रहता हैं समस्त सामाजिक व्यवस्थाए धर्म के आधार पर ही निश्चित हुई हैं मनुष्य का कर्म धर्म पर ही आधृत हैं धर्म के बिना कर्म की कोई सार्थकता नहीं हैं ।

अत. मनुष्य से सम्बन्धित सभी कर्म, धर्म, समन्वित माने गये हैं यह सम्भवतः इसलिए हुआ कि मनुष्य को आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त हो सके। और वह धर्म संवलित मार्ग पर चल सके। इहलौकिक और पारलौकिक दोनो को सुखी करने का एकमात्र साधन धामिर्कता थी नौतिक और सात्विक क्रियाये धर्म से सम्बम्धित थी ।

इसलिए मनुष्य अपने जीवन में धर्मभीरू भी बना रहता था धार्मिक प्रवृत्ति मनुष्य को व्यक्तिगत लाभ से हटाकर सामूहिक लाभ की ओर अग्रसर करती हैं मनुष्य के सँकुचित और सीमित विचार का अन्त धर्ममूलक प्रवृत्तियों के आश्रय से होता हैं फलतः भेदभाव और अर्न्तरता की भावना समाप्त हो जाती हैं अभेद और प्रेम समन्वित वातावरण का निर्माण होता हैं मनुष्य के जीवन में सुख की अनुभूति धर्म के अनुगमन से होती हैं भौतिक और आध्यात्मिक दोनो सुखों की प्राप्ति धर्म से ही संभव हैं।

बौद्ध साहित्य से भी यह विदित होता है कि बुद्ध के समय और उनके ठीक पूर्व इस देश में बैरागियों और संन्यासियों की सख्या बहुत बढ गयी थी उन दिनों समाज में प्राय. दो प्रकार के लोग थे एक तो वे जो यज्ञ मात्र को ही इष्ट मानकर वैदिक धर्म का पालन करते थे ब्राहमणो को दान–दक्षिणा और सम्मान देते थे तथा विभिन्न देवताओं को पूजकर संतुष्ट रहते थे किन्तु जो लोग इस धर्म से संतुष्ट नहीं होते वे संन्यासी हो जाते थे और हठयोग की क्रिया से देह–दंण्डन करने में सुख मानते थे साधुओ में उन दिनों भी योग का व्यापक प्रचार था तथा यह माना जाता था कि हठयोग के द्वारा मनुष्य आत्मा की उपलब्धि कर सकता हैं जब स्वयँ गौतम घर से निकले तब पहली बात उन्हें यह सूझी कि योग करके आत्म ज्ञान प्राप्त करें योग विषयक विश्वास उन दिनों इतना प्रबल था कि गौतम निरन्तर छह वषो तक योग करते ही रहें किन्तु जब छह वषों में भी उन्हें इष्टोपलब्धि नहीं हुई तभी उन्होनें योग का त्याग किया, बुद्ध के समय भारत वर्ष में श्रमणों की ६३ संस्थाये वर्तमान थी।[1]

जिनमें से छह तो बहुत ही प्रमुख संस्थाए थी । अवश्य ही ये सस्थाए वर्तमान थी । दीर्धनिकाय के सांमफल सुत्त के अनुसार इन छह सँघों में एक का आचार्य पूरण कश्यप था जो यह मानता था कि मनुष्य जो कुछ भी करें वह पाप का भागी नहीं होता हैं । तीक्ष्णधार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार

१– प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्यु ते पुनरेवापियन्ति।। (मुण्डकोपनिषद्)
– अठारह प्रकार के जो यज्ञ कहे गये है वे वस्तुतः छोटी–छोटी कमजोर नावों के समान हैं जिनसे समुद के पार जाना असम्भव है।

के सब प्राणियो को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप नहीं लगेगा। गगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान देता है या दिलवाता है, यज्ञ करता है या करवाता हैं तो भी कोई पुण्य नहीं होता। दान, धर्म, सत्य, भाषण इन सभी में पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। पूरण कश्यप के इस वाद को अक्रियावाद कहते हैं ।

दूसरे संध का आचार्य मक्खलि गोसाल था उसका कहना था कि प्राणी के पवित्र या अपवित्र होने में कुछ हेतु हैं न कारण, बिना हेतु और कारण के ही प्राणी पवित्र और अपवित्र होते हैं बल, वीर्य, पराक्रम और पुरूषार्थ ये कुछ भी नहीं हैं। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य है। नियति, सँगति, और स्वभाव से वे चालित होते हैं।

अस्सी लाख महाकाव्यों के फेरे में पडें विना किसी भी दुःख का नाश नहीं होता। मक्खलि गोसाल के इस मत को देववाद कहते हैं।[१] तीसरेसंध का प्रमुख अजित केस–कंबल था। वह कहता था कि चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना हैं। मरने पर ये चारों (क्षिति, जल, पावक, वायु) तत्व अपने–अपने स्थान में समा जाते हैं । मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता, पण्डित और मूर्ख दोनों का मरने के बाद उच्छेद हो जाता हैं, केस कंवल के इस मत को उच्छेदवाद या जड़वाद कहते थे।

चौथे संध का आचार्य यकुध कात्यायन था जिसका मत बहुत कुछ गीता में प्रतिपादित मत से मिलता हैं, वह कहता था "जो तेज शस्त्रों से दूसरे का सिर काटता है वह खून नहीं करता।

१– इन यज्ञों को जो व्यक्ति श्रेय मानकर उनका अभिनन्दन करता है वह मूढ़ है और वह फिर–फिर बुद्धत्व और मरण को प्राप्त होता हैं।

सिर्फ उसका शस्त्र उन तत्वों के अवकाश (रिक्त स्थान) मे घुसता हैं। जिन तत्वों से जीव निर्मित हैं" इस मत को अकृततावाद कहते थे ।

पॉचवे संध का आचार्य जैन साधु निगंठनाथ युक्त था जो ऊपर लिखे चारों मतो का प्रतिपादन करता था ।

छठे संध का आचार्य संजय बेलठ्ठि युक्त था, वह कहता था "परलोक हैं या नहीं यह मैं नहीं समझता, परलोक हैं, यह भी नहीं, परलोक नहीं हैं, यह भी नहीं । अच्छे या बुरे कर्मो का फल मिलता हैं यह मैं नहीं मानता, नहीं मिलता हैं, यह भी नहीं मानता । तथागत मृत्यु के वाद रहता हैं या नहीं रहता, यह मैं नहीं समझता, वह रहता है, यह भी नहीं, नही रहता हैं यह भी नहीं "। इस वाद को अनिश्चितता वाद कहते हैं ।

इन छह मतों में एकता नहीं थी किन्तु एक बात में ये सब के सब एक थे ।

इन सभी संधो के साधु घर छोडकर वैरागी हुए थे, समाज मे प्रचलित हिंसापूर्ण यज्ञो से विरत होकर संसार छोड आये थे । वे सब के सब चाहते थे कि हिंसा पूर्ण यज्ञ बन्द हो । और मनुष्य किसी अधिक गम्भीर धर्म का आचरण करना सीखें ।

नास्तिकता की परम्परा -

नास्तिको वेद निन्दकः । भारतीय परम्परा में नास्तिक उस व्यक्ति को कहा गया हैं जो वेद की निन्दा करता हैं ईश्वर की सत्ता न मानने वाले को नास्तिक कहने की प्रथा बहुत बाद में चली ।

पाणिनि के काल तक भी नास्तिक उसे कहते थे जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता था । पाणिनि का एक सूत्र हैं "अस्ति–नास्ति

दिष्टं मति."। अर्थात् परलोक की सत्ता को मानने वाला व्यक्ति आस्तिक और न मानने वाला व्यक्ति नास्तिक कहलाता है।[1] इस दृष्टि से देखने पर पता चलता हैं कि बौद्ध और जैन में कोई भी धर्म नास्तिक नहीं हैं । क्योंकि दोनो मत परलोक की सत्ता को मानते हैं तथा दोनो का विश्वास हैं कि विश्व वही तक समाप्त नहीं हैं। जहाँ तक वह दिखाई देता हैं। "बुद्ध ने अपने संम्वादों में नास्तिकता को मिथ्या दृष्टि कहकर गर्हित किया हैं"।[2]

जहाँ तक ईश्वर सिद्धि का प्रश्न हैं बुद्ध ने उसे अब्याकृत कोटि में डाल रखा था और जैनाचार्यो का विश्वास था कि जड और चेतन दोनो अनादि और दोनों स्वयंसिद्ध हैं अत: सृष्टिकर्त्ता के रूप मे किसी परमशक्ति की कल्पना करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं हुई ।

अद्वैतवाद के अन्दर जिस ब्रहम की कल्पना की गयी हैं वह तटस्थशक्ति हैं ब्रहम न तो जन्म लेता हैं न मरता हैं वह न तो किसी को जन्म देता हैं न किसी को मारता हैं । यह सृष्टि प्रकृति के मूल तत्वों से विकसित होती हैं और फिर काल पाकर स्वयं उसमें वापस हो जाती है ।

भारतीय कल्पना का ईश्वर ब्रहम हैं जो निर्विकार है जिसमें इच्छाए नहीं होती जो सृष्टि नहीं बनाता जो ससार के सभी कामों में तटस्थ रहता है किन्तु इस्लाम और ईसाई मत की कल्पना का ईश्वर इच्छावान और कर्मठ है वह सृष्टि की रचना करता है तथा मनुष्य को उनके पाप और पुण्य के लिए दण्ड एवं पुरस्कार भी देता हैं ।

१— महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित 'जैन दर्शन' नामक ग्रन्थ की भूमिका मे — डा० मंगलदेव शास्त्री का मत

२— बौद्ध दर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव — द्वारा लिखित

यही कारण है कि जहाँ हिन्दुओं ने बुद्ध को विष्णु का अवतार माना वहीं दूसरी तरफ जैन धर्म के मूल प्रवर्तक श्री ऋषभदेव की भी गिनती चौबीस अवतारों में की ।

अगर वेद की निन्दा की बात को ले तो वह भी महावीर एवं बुद्ध के आर्विभाव के पहले ही शुरू हो गयी थी वेदो का कर्मकाण्ड धीरे–धीरे भोगवादी सभ्यता का दर्शन हो गया था और उपनिषदो के ऋषि जब समाज को भोगवाद के ऊपर उठाने की कोशिश करने लगें तब वेदो की थोडी बहुत आलोचना करना उनके लिए अनिवार्य हो गया ।

मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में ही परा और अपरा विद्याओं के बीच विभाजन किया गया हैं तथा स्पष्ट घोषणा की गयी कि अपरा विद्या वह हैं जिससे मनुष्य लोक और परलोक मे भोग प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करता हैं । जैसे ऋक् यजुष, साम और अथर्ववेद इनके विपरीत परा विद्या उस आत्म विद्या को कहते है जिससे मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष लाभ करता है यही परा विद्या ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है जिसे उपनिषदों ने वेद से श्रेष्ठ बताया हैं ।

कठोपनिषद में भी विद्या और अविद्या के बीच विभाजन करते हुए ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओं में की हैं क्योंकि वेद जो यज्ञ सिखाते है उससे आत्म विद्या को प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती स्वयं गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "वेद तो तीनों गुणों मे रत है, हे अर्जुन ! तू तीनों गुणो से ऊपर उठ" ।

महावीर एवं बुद्ध दोनों में एक अन्य विशेषता यह थी कि वे ब्रह्मणो को ऊँचा पद देने को तैयार नहीं थे दूसरी ओर वे मनुष्य मात्र को समान समझते थे जब एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तब फिर मनुष्य–मनुष्य में भेद करने की बात नहीं चल सकती ।

जहाँ तब ब्रह्मणों के उन्नत पद पर शका करने का सवाल है यह बात उपनिषदों में शुरू हो गयी थी। बुद्ध की तरह भगवान श्रीकृष्ण ने यज्ञ का आमूल विरोध नहीं किया किन्तु यज्ञ के अर्थ मे उन्होने बहुत बडी क्रांति कर दी।[1]

१– न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार ने लिखा है कि बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे।

अध्याय २

माध्यमिक दर्शन में परमतत्व का स्वरूप

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत माध्यमिक (शून्यवाद) दार्शनिक चिन्तन का एक प्रतिमान है वस्तुतः यह विचारधारा बौद्धचिन्तन का चरमोत्कर्ष है जहॉ हीनयान में महात्मा बुद्ध के उपदेशो की व्याख्या उसके शाब्दिक और अभावात्मक दृष्टि से की गयी वही महायानियो ने उसे आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया। हीनयान का निषेधात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वमान्य और लोकप्रिय न हो सका। कालक्रम में बौद्धधर्म अत्यन्त लोकप्रिय होने के कारण सार्वभौमिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है ऐसी परिस्थिति में हीनयानी दार्शनिक चिन्तन और धर्म लोकप्रिय न रहा।

अब ऐसे एक धर्म की आवश्यकता हुई जो हीनयान की अपेक्षा अधिक उदार–सरस और व्यवहार्य हो सके। महायान बौद्ध धर्म का एक विकसित–रूप हैं, जिसके बीज प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में मिलते है। महायान का ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जो मौलिक रूप से बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्यों में नहीं है।

वस्तुतः माध्यमिको का शून्यवाद बौद्धधर्म के "सर्वम् अनित्यम् सर्वम् दुःखम् और सर्वम् अनात्म" इन तीन सिद्धान्तों का विकसित रूप है महायान की प्रमुख विशेषता लोकमंगल की अवधारणा है। इसके बीज महात्मा बुद्ध के प्रथम उपदेश में निहित है।

कहा गया है कि चरथ भिक्खवो चारिक......

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाथ।[1]

अन्याय हिताय सुखाय देवमनुस्साय्।

महायान की प्रमुख विशेषता करूणा की भावना है इसका उत्स प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में उल्लिखित चार ब्रह्म् बिहारो के रूप मिलते है महायान दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त बोधिसत्व है। बोधिसत्व परम कारूणिक होते है। इसका उत्स पालि निकायों मे है इसके कई सुत्तो मे ऐसे अनेक वाक्य मिलते है जिनका आधार बोधिसत्व है। बोधिसत्व का अर्थ सम्बोधि के लिए प्रयत्नशील प्राणी से है। महात्मा बुद्ध अपने पूर्वजन्मो में भी बोधिसत्व माने गये है वस्तुत. बौद्ध जातको की कहानियाँ बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित है ।

इससे स्पष्ट है कि बोधिसत्व का आदर्श पालि साहित्य में अर्न्तनिहित है परन्तु इसे एक ब्यवस्थित और विकसित सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय माहायानियों को जाता है।[2]

माध्यमिक साहित्य

माध्यमिक दर्शन के मूलतत्व महायान सूत्रों में बिखरे हुए हैं, उन्हे संकलित करके एक व्यवस्थित दशर्न के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य नागार्जुन को हैं। नागार्जुन के अतिरिक्त आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, बुद्धपालित, भावविवेक, शान्तिदेव, आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक हैं।

१– विनय पिटक १/२१

२– भारतीय दर्शन – डा० नन्दकिशोर देवराज– उ०प्र० हिन्दी संस्थान लखनऊ १९८३ तृतीय संस्करण पृ०सं० १८६

इस सम्प्रदाय का विकास नागार्जुन के दर्शन से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक शाश्वत रूप से चलता रहा। मूल माध्यमिक कारिका चतु सतक प्रसन्नप्रदा माध्यमिक, वृत्ति, तर्क ज्वाला, वोधिचर्यावतार और शिक्षा समुच्चय इस सम्प्रदाय के प्रमुख साहित्य है माध्यमिकों के अनुसार उनका सम्प्रदाय महात्मा बुद्ध के मध्यमा प्रतिपत् का एक विकसित और व्यवस्थित स्वरूप है।

उनका मध्यम मार्ग मध्यम प्रतिपत् से निकला हुआ है। नार्गाजुन ने अपने एक विशिष्ट ग्रन्थ में मध्यमाप्रतिपत्र का विवेचन बहुत ही तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसीलिए उस ग्रन्थ को मध्यमक शास्त्र कहा जाता है। इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को मानने वाले अनुयायियों को माध्यमिक कहा गया हैं।

इस निकाय को शून्यवाद के नाम से जाना जाता है क्योंकि नागार्जुन का दावा है कि शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपत् का ही एक रूप है।[1]

महायान का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ महायान वैपुल्य सूत्र है इसमे शून्यवाद का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है इसके अतिरिक्त नागार्जुन के आचार्य–नागार्जुन के पहले आचार्य अश्वघोष हुए है। जो महाराज कनिष्क के समकालीन थे अश्वघोष का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र जो मूल संस्कृत में था। उपलब्ध नही था। किन्तु आचार्य परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित इसका एक रूप उपलब्ध है।

चीनी भाषा के प्रोफेसर सुजुकी और टी० रिचर्ड ने इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया इस प्रकार अश्वघोष के दार्शनिक चिन्तन का ज्ञान प्रायः

१– यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।

सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।।

माध्यमिक कारिका २४/१८ पृ०सं०१६५

इन्ही अनुवादों पर निर्भर है किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों (ताकाकुसु और विन्टरनित्ज) के अनुसार इस शास्त्र के प्रणेता अश्वघोष नहीं है। अश्वघोष के दो ग्रन्थ सौन्दरनन्द और बुद्धचरित संस्कृत के ये दो महाकाव्य कहा जाता है कि अश्वघोष न महात्मा बुद्ध के दर्शन को ही उपनिषदो की विचारधारा के आलोक में स्थापित करने का प्रयास किया। महायान सम्प्रदायो का कोई भी सिद्धान्त ऐसा नही है। जो बीजरूप मे अश्वघोष के दर्शन मे निहित न हो अष्टसाहत्रिका, प्रज्ञापारमिता, सत्साहत्रिका, समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार आदि ग्रन्थ महायान सूत्रों की स्थापना अद्वैतवाद है।

उनके अनुसार तत्व साक्षात्कार (प्रज्ञापारमिता अपरोक्षानुभूति) के द्वारा ही हो सकता है क्योंकि तत्व ज्ञान तर्कबृद्धि के द्वारा नही हो सकता है इन सूत्रों में कुछ स्थानो पर जगत् को "वन्ध्यापुत्र और शशक श्रृंग के समान असत् कहा गया है किन्तु इसका आशय केवल यह है, कि जगत् मिथ्या है। न कि असत्। जगत की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है।

सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र के अनुसार बौद्धिक स्तर पर मनुष्य अज्ञानान्धकार में उलझाा रहता है। बुद्धि की सीमा का अतिकमण करके ही तत्व साक्षात्कार सम्भव है सम्यक् सम्बोधि की अवस्था में बुद्धि की सारी कल्पनायें विलीन हो जाती है। समस्त प्रपंञ्च शान्त हो जाते है। पारमार्थिक दृष्टि से भेद मिथ्या है। व्यवहार में जगत को सत्य माना जा सकता है। क्योकि हम संसार की सहायता से ही निवार्ण को प्राप्त कर सकते है।[1]

१– भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन– डा० चन्द्रधर शर्मा पृ०सं० ७२,७३

निर्वाण प्राप्ति के बाद बोधिसत्व भी दु ख संन्तप्त प्राणियो को महायान मे बैठाकर भवसाागर के पार धर्मधातु के तट पर ले जाता है।

माध्यमिक का दूसरा नाम शून्यवाद भी है। उन्हें माध्यमिक इसलिए कहा जाता है। क्योंकि वे स्वयं को बुद्ध के मध्यम मार्ग का अनुयायी कहते है। माध्यमिकों ने शून्यपद का प्रयोग एक विशेष पारभाषिक अर्थ मे किया है।[1]

इसका प्रयोग शाब्दिक अर्थ अर्थात् अभाव असत् या सर्वनिषेध के अर्थ में नहीं किया गया है। अनेक विद्वानों ने इसे सर्वप्रमाणविप्रतिसिद्ध असत् नास्तिक सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु यह प्रयास कुछ पूर्वाग्रहों पर आधारित है।

शून्यपद का प्रयोग दो रूपों में किया जाता है। इसका प्रयोग व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनो दृष्टियों से किया गया है व्यावहारिक दृष्टि से शून्य का अर्थ है। स्वभाव शून्य अर्थात् पराश्रित और प्रतीत्यसमुत्पन्न पारमार्थिक दृष्टि से इसका अर्थ है। प्रंपञ्च शून्य ससार का स्वभाव शून्य कहने का अर्थ यह है कि संसार की सभी वस्तुए अज्ञानजन्य है प्रतीतसमुत्पन्न, परतन्त्र सापेक्ष स्वतंत्र सत्ता से रहित है। उनकी प्रतीत बौद्धिक आभाषीष एवं मिथ्या है। बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त एक प्रकार का सापेक्ष कार्यकारणवाद है। अतः समस्त पदार्थ अविद्या के कारण प्रतीत होते है। वास्तव में उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। जो प्रतीत्य समुत्पन्न है। ससार और निर्वाण व्यवहार और परमार्थ का भेद अविद्याजन्य है। यह केवल व्यवहार तक सीमित है। परमार्थ अद्वैत है, पारमार्थिक दृष्टि से परमार्थ और व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है निर्वाण

१— संसार सागरात पारमुत्तार्थ अनुन्तरे अमये अशोके शिवे अमृते धर्मधातौ प्रतिष्ठापयिष्यति — ललित विस्तर पृ०सं० २१६

चतुकोष्टिविर्निमुक्त और अनिर्वचनीय है। परमार्थ समस्त बुद्धि विकल्पों से परे है। वह अतीन्द्रिय और बुद्धि विकल्पातीत है।

वस्तव में माध्यमिको ने 'तत्व' और संसार दोनों को अनिर्वचनीय कहा है, तत्व अतीन्द्रिय और निर्विकल्प होने के कारण वाणी द्वारा ग्राहय नहीं है। तत्व के विषय में वाणी के समस्त निर्वचन अपूर्ण होते है। उसकी अनिर्वचनीयता में ही पारमार्थिक सत्ता सिद्ध होती है।

तत्व की अनिर्वचनीयता बुद्धि की अपूर्णता और तत्व की स्वानुभूतिपरकता को अभिव्यक्ति करता है। यह संसार न सत् है और असत् हैं अतः इसे भी अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। पारमार्थिक तत्व अनिर्वचनीय होने के कारण सत्य है किन्तु साम्वृत्तिक सत्य (ससार) अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है मध्यममार्ग को मध्यमाप्रतिपद कहा गया हैं इसका अर्थ है कि सभी द्वन्दों से परे होना, यह दो अतियों अन्तों दृष्टियो या विकल्पों के बीच कोई तीसरी दृष्टि नहीं है।[१]

नगार्जुन ने स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक प्रतीत्यवाद ही शून्यता है यही मध्यमा प्रतिपद है। अपनी माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में नागार्जुन ने बुद्धि को परम कल्याण स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेशक के रूप में प्रस्तुत किया है।[२] इसी प्रकार इस ग्रन्थ के अन्त में बुद्ध को समस्त दृष्टियों के निषेधात्मक सद्धर्म के उपदेष्टा और परम कारूणिक के रूप में उद्धृत किया है।

१– यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।

देशयामास सम्बुस्तं बन्दे वदतां वरम् ।। "वही मंगलाचरण"

२– सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्मम देशयत् ।

व्यावहारिक दृष्टि से शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद या ससार है जिसमे भूततथता (तत्व) का अभाव है। पारमार्थिक दृष्टि से यह निर्वाण है। जहॉ अनेकता का अभाव है। संसार शून्य है क्योकि उसमे तत्व का अभाव है। वह स्वभाव शून्य है। इसी प्रकार तत्व भी शून्य है क्योंकि उसमें अनेकता या प्रपञ्च का अभाव है। अतः तत्व निष्प्रपंञ्च है।

इससे स्पष्ट है कि शून्यवाद का प्रयोग सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो अर्थो मे किया गया है। यह संसार और निर्वाण दोनो ही है। शून्यवादी सत् या भाव का अर्थ शाश्वत सत् के रूप में लेते है। सासारिक वस्तुएं सत् नहीं हैं क्योंकि वे शाश्वत नहीं है। कुछ समय बाद उनका नाश हो जाता है।

अतः संसार को शाश्वत मानना एक भ्रामक सिद्धान्त है इसी प्रकार जो लोग संसार के अस्तित्व को बिल्कुल नहीं मानते है वे भी भ्रम में है।

संसार भले ही शाश्वत न हो परन्तु उसके व्यावहारिक अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही मिथ्या सिद्धान्त है। पारमार्थिक तत्व इन दोनो से परे है। इसका वर्णन बुद्धि के द्वारा किया जा सकता है। किन्तु बुद्धि विप्रतिषेधों से युक्त बुद्धि की चारों कोटियॉ परस्पर विरोधी है जो विप्रतिषेधों को जन्म देती है।

इससे सपष्ट है कि तत्व बुद्धि की समस्त कोटियो से परें है इसी मन्तव्य का उल्लेख नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका मे किया है।

२. शून्यवाद की दार्शनिक पद्धति (द्वन्द्व न्याय)

माध्यमिक दर्शन अपनी चतुष्कोटिक न्याय के लिए लोक–प्रसिद्ध रहा है उनकी तार्किक पद्धति द्वन्द्वात्मक है। प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा तत्व के पूर्ण

विवेचन का दावा करता है। बुद्धि की कोटियॉ स्वभावतः अर्न्तविरोधग्रस्त है। अतः प्रत्येक बौद्धिक चिन्तन अर्न्तविरोध की ओर ले जाता है। नागार्जुन के अनुसार बुद्धि केवल चार प्रकार के विकल्पो के द्वारा ही किसी पदार्थ के स्वरूप को प्रस्तुत कर सकती है। बुद्धि पक्ष और विपक्ष दोनो को प्रमाणित करने के लिए समान बल वाली युक्तियां प्रस्तुत करती है।[१]

माध्यमिको का दावा हैं कि बौद्धिक कोटियों के आधार पर किसी पक्ष का खण्डन नही किया जा सकता है क्योंकि उनका विपक्ष उन्हीं के समानबलशाली है बुद्धि की कल्पना से उत्पन्न समस्त दार्शनिक मत अन्तर्विरोधो से ग्रस्त है किसी मत का खण्डन करने से उसके विरोधी मत का मण्डन नहीं हो सकता है वस्तुतः माध्यमिको की चतुष्कोटिक न्याय न तो कोई वितण्डा है और न ही अमूर्त बौद्धिक चिन्तन मात्र है। वह तर्क के लिए तर्क नहीं है। उसके तर्क का प्रयोंजन पारमार्थिक है। व्यावहारिक वस्तुओ और बुद्धि के स्वरूप में अन्तर विरोध प्रदर्शित करके माध्यमिक यह सिद्ध करना चाहता है, कि तत्व बुद्धि गम्य नहीं है। अपितु स्वानुभूतिगम्य है। इससें स्पष्ट है, कि तार्किक चिन्तन की अपेक्षा आध्यात्मिक साधना के द्वारा पारमार्थ तत्व का साक्षात्कार ही जीवन का परमलक्ष्य होना चाहिए।

बुद्धि का क्षेत्र यह संसार है। बुद्धि ग्राहय विषयों को परमतत्व मानकर आसक्त होना ही अविद्या है। इसी कारण से मनुष्य भवचक्र में फंसा रहता है।

१— अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ।। वही २६३

सद्धर्मपुण्डरीक — ४८ — डा० सी० डी० शर्मा पृ०सं० ७८

हमारी बुद्धि केवल चार प्रकार के विकल्पों पर ही विचार कारती है।

१. सत् अर्थात भाव

२. असत्-अभाव

३. उभयात्मक – सत् और असत्

४. अनुभयात्मक – अर्थात् न सत् न असत्

हम किसी पदार्थ का निर्वचन भाव अर्थात् है रूपमें करते है। अथवा अभावरूप में करते है। अथवा है और नहीं है। रूपमें कर सकते है। अथवा है और नहीं है। रूप में कर सकते है। या न है और न नही है। इस रूपमें कर सकते है।

इससे स्पष्ट होता है कि परमतत्व बुद्धि की कोटियों के तर्क जाल से परे है। इसे तर्क जाल और भाषा जाल मेंबॉधा नहीं जा सकता हैं। चूँकि परमतत्व तर्क से परे है। अतः वह तार्किक आकलनो की परिधि में नहीं आ सकता है।

नागार्जुन ने १६ वीं शताब्दी के प्रमुख आंग्ल दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले के समान बुद्धि की सभी कोटियों को अन्तर्ग्रस्त दिखाने का प्रयास किया। नागार्जुन की यह प्रणाली ब्रैडले की द्विविभाजन प्रणाली के समान है।

ब्रैडले के अनुसार प्रतीयमान जगत् विभिन्न सम्बन्धों का तानाबाना मात्र है। जो अन्तर्विरोधग्रस्त है, वह सत् नहीं आभास है, किन्तु ब्रैडले एवं नागार्जुन के मौलिक भेद भी है। ब्रैडले के मतानुसार विचार विभिन्न पदो मे ऐसे सम्बन्धो की स्थापना करता है, जो स्वयं उन सम्बन्धों से परे है। किन्तु नागार्जुन के अनुसार अनुभवमूलक जगत केवल सापेक्ष है। निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत आभास नष्ट नहीं होता। ब्रैडले केवल यह कहता है, अनेकता विरोध की जननी है। जहॉ अनेकता होगी वहॉ विरोध होगा। जहॉ विरोध होगा वहॉ विसंगति होगी,

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि अनेकता का परमसत् के अन्तर्गत कोई स्थान नहीं है। इस सन्दर्भ मे ब्रैडले कहता है.. आभासों के अतिरिक्त निरपेक्ष सत् के पास कोई अन्य सम्पत्ति नहीं पाई जाती। किन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि आभासों के पूँजी के उपर निरक्षेप सत् को दिवालिया ही कहा जायेगा।

इससे स्पष्ट है कि वह इस ससार को असत् या मिथ्या नही कहता, इस संसार में कुछ न कुछ सत्ता आवश्यक है किन्तु नागार्जुन के अनुसार यहाँ ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है।

किन्तु नागार्जुन अनुभवमूलक जगत के अधिष्ठान के रूप में एक ऐसे तत्व के रूप में विश्वास करते है। जो शून्य नहीं बल्कि अपर प्रत्यय शान्त समस्त प्रपंञ्चों से परे निर्विकल्प और अनानार्थ है।

माध्यमिकों की द्वन्द्वन्याय

माध्यमिक दर्शन के द्वन्द्व न्याय को समझे बिना माध्यमिको की परमतत्व की अवधारणा का सम्यक् विवेचन नहीं किया जा सकता है। माध्यमिको के अनुसार शून्यता सभी दृष्टियों का अन्त है, दृष्टिवाद का मत है कि सभी सिद्धान्त बौद्धिक है। बुद्धि विचारों के तार्किक स्वरूप का निर्माण करती है। बुद्धि सविकल्प है। सापेक्ष हैं जबकि तत्व निर्विकल्प एवं निरक्षेप है।

द्वन्द्व न्याय तर्क बुद्धि की सीमाओं का निरूपण है। तत्व का यथार्थ स्वरूप सभी प्रकार के द्वन्द्वों से परे है। तत्व तर्कगम्य नहीं है। तत्व को शून्य एवं अनिर्वचनीय कहा गया है इसका बोध प्रज्ञा से हो सकता है। तर्कबुद्धि से नहीं।

माध्यमिकों की अनुसार द्वन्द्व न्याय के अन्तर्गत तीन बातें उल्लेखनीय है।

१. दृष्टि अर्थात् सिद्धान्त का होना

२. सिद्धान्त की समीक्षा

३. परमतत्त्व को प्रज्ञा के विषय के रूप में स्थापित करना।

द्वन्द्वन्याय के अनुसार सम्पूर्ण तत्व सम्बन्धी सिद्धान्त केवल दृष्टि है, यह बौद्धिक द्वन्द्वो की देन है। प्रज्ञा के द्वारा निर्दोष , निर्विकल्प निरक्षेप, अनुभव को जाना जाता है। बुद्ध के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियॉ है जिन्हे कमशः तर्क एवं प्रज्ञा कहा जाता है दृष्टि केवल साधरण या व्यावहारिक ज्ञान है। तर्क सिद्धान्तो का ज्ञान है। इसे माध्यमिक दार्शनिक वैज्ञानिक ज्ञान भी कहते है।[1]

अन्य दार्शनिकों ने भी इसे सैद्धान्तिक या तार्किक ज्ञान के रूप मे स्वीकार किया है इसके विपरीत तत्व तर्कगम्य नहीं है। यह प्रज्ञा का विषय है यह ज्ञान सर्वोच्च है। इसमें बुद्धि विकल्पों से परे है। अतएव इसे निरक्षेप कहा जाता है। महात्माबुद्ध प्रज्ञा को एक मात्र तत्व मानते थे। बौद्ध दर्शन में तत्व स्मबन्धी चौदह प्रश्न जाने जाते है। जिन्हें अव्याकृत कहते है।[2]

१. यह संसार नित्य है अथवा अनित्य या दोनों ही माना जाता है।

२. यह संसार शांन्त है या नहीं, या दोनों है अथवा इन दोनों से अलग है।

३. मनुष्य की मृत्यु के बाद तथागत का अस्तित्व है या नहीं या इन दोनों से भिन्न है।

४. जीव और शरीर एक है; अथवा इनसे भिन्न।

१— शून्यता सर्व दृष्टिना । — डा० बी० एन० सिंह पृ०सं० १६७

२— चातुष्कोटिकं च महामते लोक व्यवहारः । — लोकावतार पृ०सं० १८०

नागार्जुन के अनुसार बुद्धि के चार विकल्प ही बौद्धिक द्वन्द्व है। ये चार कोटियाँ ही चार नय कहलाती है, किन्तु तत्व न तो शून्य है, जो बुद्धि के चारों कोटियों से परे है।[1]

नागार्जुन द्वन्द्वन्याय के द्वारा सभी ग्राहय पदार्थो का विरोध करते है। नागार्जुन के अनुसार बौद्धिक सिद्धान्त सिर्फ वांग्जाल तर्कजाल मिथ्या है। कोई भी सिद्धान्त परीक्षण पर खरा नही उतरता। सभी सिद्धान्तों में कोई न कोई दोष पाया जाता है।

नागार्जुन के अनुसार कारणता का सिद्धान्त द्वन्द्वन्याय के प्रयोग में सबसे प्रमुख है। कारणता के अनुसार कार्य कारण से उत्पन्न होता है।

कार्य की उत्पत्ति के चार कारण माने जाते है। स्वतः उत्पत्ति, परत. उत्पत्ति, उभयतः उत्पत्ति, एवं अहेतुक उत्पत्ति । पदार्थ स्वयं या दूसरे कारण से उत्पन्न नहीं होता है। ये बुद्धि की चार कोटियाँ है। भाव–अभाव उभय एव नोभय।

माध्यमिक दार्शनिको के अनुसार कार्य अपने कारण से ही उत्पन्न होता है। कार्य कारक एक ही है।

सांख्य के सत्कार्यवाद का भी यही मत है। इनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्)है।

१– यद् शून्यमिदं सर्व मुवयों नास्ति न व्ययः ।

चतुर्णामार्यसत्यानाम भावस्ते प्रसज्यते ।। माध्यमिक कारिका २४/२०

उत्पत्ति का खण्डन-

नागार्जुन के अनुसार यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) है। तो इसे उत्पत्ति मानना होगा जो गलत है। यदि कार्य कारण मे पहले से है। तो फिर उत्पन्न होने का अर्थ ही क्या है।

नागार्जुन के अनुसार कार्य की उत्पत्ति न स्वतः न परत. न उभयतः न अहेतुक। इस तरह कारणतावाद का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता है।[1]

नागार्जुन सभी कारणो या सिद्धान्तो का परीक्षण करते है। उनके अनुसार कोई भाव नहीं है। अतएव उसकी उत्पत्ति कारण नहीं होता। कोई धर्म या विषय नहीं। बीज अंकुर की उत्पत्ति का पूर्व क्षण है। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्येक निदान सापेक्ष है। स्वतंत्र नहीं। क्योकि जो स्वतंत्र नहीं। उसका कोई स्वभाव नहीं। पुनः नागार्जुन कहते है कि जब वस्तु का कोई स्वभाव नहीं तो सभी

निःस्वभाव है हम यह कैसे कह सकते है कि कार्यकारण में विद्यमान है या अविद्यमान है सभी भाव केवल सापेक्ष है, एक दूसरे पर आश्रित है। नागार्जुन गति को मिथ्या बतलाते है गति का सम्बन्ध गमन क्रिया से है गमन क्रिया गत अगत या गतागत मार्ग से है।

माध्यमिको के अनुसार गत मार्ग पर गमन नही हो सकता क्योकि वह तो गत हो चुका है जबकि आगत तो अभी आया ही नहीं और गतागत मार्ग की कल्पना तो असंगत है।[2]

१— न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यानाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।। नागार्जुन, माध्यमिक कारिका १/२१

२— गतं न गम्यते तावद गतं नैव गम्यते ।
गतागत विर्निमुक्त गम्यमानं न गम्यते ।। नागार्जुन माध्यमिक कारिका २/६

नागार्जुन के अनुसार चेष्टा तो चलने वाले के शरीर में होती है, स्थान में नहीं अतएव यदि गम्यमान मार्ग नहीं तो गन्ता (चलने वाला) भी नहीं। अतः एक व्यक्ति में दो क्रियायें नहीं हो सकती है।

प्रमाण परीक्षा–

माध्यमिको के अनुसार प्रमाण से ही प्रमेय की सत्ता सिद्ध होती है। अतएव प्रमेय सिद्ध के लिए प्रमाण आवश्यक है। नागार्जुन प्रमाण–प्रमेय सम्बन्ध की व्याख्या करते है। उनके अनुसार प्रमाण से ही प्रमेय सिद्ध होता है। यदि प्रमाण स्वयं असिद्ध या असत्य है। तो प्रमेय सिद्ध नही हो सकता ।

नागार्जुन के अनुसार जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे को कैसे सिद्ध कर सकता है प्रमाण स्वतः प्रमाण है या परतःमाध्यमिकों के अनुसार जैसे पिता की सत्ता पुत्र पर पुत्र की सत्ता पिता पर है, ठीक उसी प्रकार प्रमाण प्रमेय पर एवं प्रमेय प्रमाण पर आधारित है। दोनों में अन्योयाश्रय दोष है। यदि प्रमाण ही असिद्ध है तो फिर किसी भी सिद्धान्त की सिद्धि किस प्रकार होगी।

नागार्जुन का उत्तर है, हमारा कोई सिद्धान्त या प्रतिज्ञा ही नहीं, अतः हमें प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं।

प्रतीत्य समुत्पाद-

प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध का प्रमुख आधार कहा जाता है नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद की नयी व्याख्या करते है उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता एवं स्वभाव शून्यता का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानो की

व्याख्या है। प्रत्येक निदान को दूसरे निदान की आवश्यकता है यहीं सापेक्षवाद है प्रतीत्यसमुत्पाद सम्पूर्ण ससार की व्याख्या है।

नागार्जुन के अनुसार सारा संसार निः स्वभाव है किसी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नहीं है। नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता का सिद्धान्त कहते है, यह मध्यमाप्रतिपद है शून्यता ही परमतत्व है यह परमतत्व बुद्धि के सभी विकल्पो से परे निर्विकल्प अनुभव का विषय है। माध्यमिकों के मतानुसार द्वादश निदान सासरिक प्रपञ्चों की व्याख्या है। रासार की उत्पत्ति एवं रांतति इसी के कारण चलती रहती है इसका मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। विद्या से अविद्या का नाश होता है। नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को आठ विशेषणो से युक्त मानते है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम एवं अनिर्गम है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सभी विशेषणों के द्वारा विरूद्ध धर्मो का निषेध माना जाता है। विरूद्ध धर्म केवल सापेक्ष एवं सविकल्प बुद्धि की देन है।

माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनो दृष्टिकोणें से प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते है अर्थात संसार की व्याख्या के अन्तर्गत उत्पत्ति विनाश सभी संसारिक दृष्टि से सत्य है। जबकि पारमार्थिक दृष्टि से न उत्पत्ति है न स्थिति है, और न विनाश है। यह सभी भावो की निःस्वभावता है।

नागार्जुनके मतानुसार जो प्रतीत्यसमुत्पाद के ब्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनो पक्षों को जानता है। वही चार आर्य सत्यों को समझ सकता है।

माध्यमिको के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। सभी तरह के भावों को जान लेना ही यथार्थ ज्ञान है। मनुष्य के अज्ञान के समाप्त होते ही उसके भावांगो का निरोध हो जाता है।

दो सत्यो का सिद्धान्त-

नागार्जुन के अनुसार महात्मा बुद्ध ने दो प्रकार से सत्य का निरूपण किया है। प्रथम लोकसंवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। जो भी व्यक्ति इन दोनों को नहीं जानते, तो वह भगवान बुद्ध के दर्शन को कभी भी नहीं जान सकते।[1]

संबृत्ति अज्ञान है वह अज्ञान एवं विक्षेप दोनो ही मानी जाती है। संबृत्ति तत्व के मूलरुप को आवृत्त कर देती है। एवं उसकी अन्यथा प्रतीति कराती है।[2] संवृत्ति सापेक्ष कारण कार्यभाव है, संवृत्ति लोक व्यवहार है प्रज्ञप्ति है यह बुद्धि विकल्पों द्वारा कार्य करती है। बुद्धि को ही संवृत्ति कहा जाता है, बुद्धि विकल्प स्वयं अविद्या का रूप ले लोता है।

चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति को लोक संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति दो भागों मे वर्गीकृत किया।[3] लोक संवृत्ति वेदान्त का व्यवहार माना जाता है तथा मिथ्या संवृत्ति वेदान्त के प्रतिभास के समान है। संवृत्ति मूल विद्या है व्यक्तिगत अविद्या नहीं अतः इसका निरक्षेप निर्विकल्प प्रज्ञा द्वारा सम्भव है। बौद्धिक ज्ञान द्वारा नहीं क्योकि यह स्वयं बुद्धि विकल्पों का रूप है ये ही बुद्धि विकल्प इन्द्रियानुभव निरपेक्ष है। संवृत्ति आवरण एवं निक्षेप दोनो ही मानी जाती है। संबृत्ति ज्ञाता और ज्ञेय दोनों पर ही आवरण डालती है। यह पुद्‌गल या जीवात्मा पर आवरण 'क्लेशावरण' कहलाता है यह अहंकार को जन्म देकर

१– द्वै सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।

लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः ।।

२– समन्ताद आवरण संवृत्तिः अज्ञानम्। माध्यमिक कारिका २४/८६

३– मध्यमकावतार ६/२५

अन्य प्रकार के क्लेशों को उत्पन्न करता है पदार्थो अथवा धर्मो पर छाया आवरण ज्ञेयावरण कहलाता है, जिसके फलस्वरूप हम ज्ञेय प्रदार्थ का वास्तविक रूप न होकर मात्र प्रपंञ्च ही मानते है। प्रपंञ्च सापेक्ष एवं स्वभाव शून्य है। परन्तु वह असत् नहीं है बल्कि उसकी व्यावहारिक सत्ता अक्षुण्य है। संवृत्ति एवं परमार्थ का भेद सांवृत्त है न कि तात्विक है। संवृत्ति एव परमार्थ दो सत्य न होकर सत्य केवल परमार्थ है, सवृत्ति लोक व्यवहार के लिए सत्य मान लिया जाता है। जबकि वह सत्य नही है

कुमारिल के अनुसार संवृत्ति यदि सत्य है तो संवृत्ति नही हो सकती यदि वह मृषा है तो सत्य नही हो सकती बलहीन हो जाता है।[1]

नागार्जुन के अनुसार प्रतिपक्षी माध्यमिक स्तर पर 'नास्तिक' एवं सर्वनिषेधवादी होने का आरोप लगाते है, शून्यता का अर्थ नितान्त असत् या सर्वनिषेध नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्ष रूप में अविद्याजन्य कार्यकारण के रूप में संसारचक्र है स्वभावशून्य एवं मिथ्या है किन्तु व्यवहार सत्य है संवृत्तिसत्य है प्रपंञ्च शून्य तत्व गुणदोषातीत है। स्वभावशून्य जगत की सापेक्ष सत्ता शून्यता के कारण है अन्यथा जगत असत्य जो जायेगा। यदि संसार अशून्य है तो वह सत् है। तब उसकी त्रिकालाबाध सत्ता होनी चाहिए।

भगवान बुद्ध ने शून्यता को सब बुद्धि विकल्पों का ग्रहो का कोटियों का अन्तों का दृष्टियो का निषेध बताया है शून्यता में भावाभिनिवेश रखकर इसे शून्यता दृष्टि समझ ले तो उसे बुद्ध ने नष्ट–प्रणष्ट एवं असाध्य कहा है जब संसार की वास्तविक सत्ता नहीं है तो उसकी प्रतीति एवं निरोध रज्जुसर्पवत्है।

१– संवृन्तेन तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो वयम्।

सत्यां चेत संवृन्तिः कैयं मृषा चेत सत्यता कथम्।। – श्लोकवार्तिक ६/७

यदि कोई दुकानदार किसी ग्राहक से कहे 'अच्छा तुम मुझे यह 'कुछ नही' ही दे दो, तो उसे मूर्ख ग्राहक को कैसे समझाया जाय। रत्नकूटसूत्र में भगवान बुद्ध ने कहा है। शून्यता धर्मो को शून्य नही बनाती, धर्म स्वयं ही शून्य है। शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण है। परन्तु जो शून्यता को ही दृष्टि के रूप में ग्रहण करता है। उसे मै अचिकित्स्य कहता हूँ।[1]

नागार्जुन के अनुसार शून्यता की कोटि के रूप में अन्यथा ग्रहण उतना ही विनाशकारी है। जितना किसी विषैले सर्प को असावधानी से पकडना या तंत्र साधना में भ्रष्ट होना।[2]

शून्यता कोई 'खाला का घर' या हँसी खेल नही है। यह काले का खिलाना है। इसका अन्यथा ग्रहण विनाश है। तथा इसका सत्य सेवक अमृत रूप निर्वाण है।

नागार्जुन एवं उसके प्रिय शिष्य चन्द्रकीर्ति के द्वन्द्वात्मक तर्क के तीव्र प्रहारो के आगे सारे बुद्धि ग्राहय पदार्थ अपनी धज्जियॉं उड़ाते हुए खण्ड खण्ड होकर ढ़ह जाते है। उनकी सूक्ष्म पद्धति के आगे जगत के सम्पूर्ण पदार्थ स्वभाव शून्य एवं मिथ्या प्रतीत होते है। नागार्जुन अपने ग्रन्थ मंगलाचरण में ही अष्ट निषेध प्रस्तुत कर देते है। पारमार्थिक दृष्टि से (१) न निरोध है।(२) न उत्पत्ति है (३) न अनित्य (४) न नित्य (५) न एक है (६) न अनेक है (७) न आना है (८) न जाना है।

१– शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणंजिनैः ।

येषां तु शून्यता दृष्टिस्तान साध्या न बभाषिरे।। माध्यमिक कारिका १३/८

२– न शून्यतया धर्मान् शून्यान् करोति अपितु धर्मा एवं शून्याः ।

माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ०सं० २४८पर उद्धत्

यह माध्यमिक का प्रसिद्ध अजातिवाद हैं। इसमें प्रपंञ्चोपशम और शिव प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेश भगवान बुद्ध की वन्दना करते है,। नागार्जुन अपने श्लोक में पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनो रूपों को प्रकट करते है।[1]

नागार्जुन के अनुसार यहॉ न उत्पाद है न निरोध है न नित्य (शाश्वत) है, न अनित्य (उच्छेद) न एक है न अनेक है। न आगमन है, न निर्गमन, ये मूलतः आठ प्रकार प्रपंञ्च के अन्तर्गत ही आते हे। जिनका आगे चलकर प्रतीत्यसमुत्पाद में विलय हो जाता है। यह प्रपंञ्च शून्य तत्व है, न वह शिव है वह अखण्ड आनन्दस्वरूप निर्वाण है। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण कार्यवाद नही है।

माध्यमिको ने कहा है बुद्ध देशना दो सत्यो का आश्रय लेकर चलती है। लोक संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। सत्यो का यह वर्गीकरण लोक संवृत्ति की दृष्टि से है।

परमार्थ की दृष्टि से नहीं। वस्तुओ का पारमार्थिक रूप वह है जो सम्यक दृष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है। किन्तु उसकी स्वरूप सत्ता नहीं है (नतु स्वात्मयासिद्धम) वस्तुओं का पारमार्थिक रूप वह है जो साधारण जनो की दृष्टि का विषय है किन्तु इसका भी स्वरूप प्रसिद्ध है।

संवृत्ति (लौकिक अनुभव) निःस्वभाव वस्तुओं को स्वभावेन और सत्यरूपेण प्रतिभासित करती है। अज्ञजन उनको स्वतंत्र वस्तु मानते है, माध्यमिक उनको निःस्वभाव सिद्ध करते है। और उनकी असत्यता का प्रतिपादन करते है। फिर परमार्थ क्या है। जो संवृत्ति संत्य का खण्डन है, वहीं परमार्थ है।

१– अनिरोधमनुत्पाद मनुच्छेदमशाश्वतम् ।

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमन्।। – माध्यमिक कारिका मंगलाचरण

जो परमार्थ दृष्टि रखने वाला उन्हीं धर्मो को देखता है। जिनको अज्ञजन देखते है। अन्तर केवल इतना है कि वह उनको परमार्थ रूप में देखता हैं। और अज्ञजन अयथार्थरूप में परमार्थ अवाच्च और अज्ञेय है। यह मात्र स्वसंवेद्य है वह अलक्षणीय है। उसका मौन अनुभव ही किया जा सकता है।

संवृत्तिसत्य की क्या आवश्यकता है। ऐसा पूछने पर माध्यमिक कहते है, कि बिना व्यवहार (संवृत्तिसत्य) का सहारा लिए परमार्थ की देशना नही हो सकती । और परमार्थ के बिना जाने निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[1]

तत्व का स्वरूप-

शून्यवाद महायान दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त माना जाता है इसे माध्यमिक शून्यवाद के नाम से जाना जाता है इस दर्शन का मूल सिद्धान्त है कि तत्व शून्य है, तथा शून्य शब्द की व्याख्या शब्दों मे नहीं की जा सकती है। क्योंकि वह परमतत्व शून्यवाणी का विषय नही हो सकता। क्योंकि वाणी से व्यक्त होने वाले सभी विषय बुद्धि ग्राह्य होते है जो बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं वह वाणी का विषय नहीं। अतः इसे अनिर्वचनीय भी कहते है। अर्थात् साधारण अर्थ यह है कि ज्ञान या बुद्धि के द्वारा ग्रहण होने वाले सभी शब्दों की अभिव्यक्ति केवल वाणी के माध्यम से ही सम्भव है। माध्यमिको के अनुसार परमतत्व केवल शून्य हैं जो कि बुद्धि का विषय न होकर अनुभवगम्य है। हमारी बुद्धि तार्किक है। तर्क के चार प्रकार माने जाते हैं। भाव–अभाव, उभय (भावाभाव) एवं नोभयं (न भाव न अभाव) । हमारी बुद्धि इन्ही चार प्रकार के तत्वो की ग्रहण करती है।

१– व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।। माध्यमिक कारिका २४/१०

जैसे हम किसी वस्तु को सत् मानते है व किसी को असत् मानते है या सत् एव असत् दोनो मानते है या सत् एवं असत् दोनो मे कोई नहीं मानते। परन्तु परमतत्व शून्य बुद्धिग्राह्य पदार्थ नहीं, तर्क के सभी नियम इसमें लागू नहीं होते, इस प्रकार तर्क से परे चतुष्कोटिविर्निमुंक्त कहा गया है, चार कोटिया बुद्धि के विकल्प है इसीलिए बुद्धि को सविकल्प कहा गया है। परन्तु तत्व (शून्य) निर्विकल्प अनुभूति का विषय है।

माध्यमिको के अनुसार शून्य ही परमतत्व है, इसे जानने वाला ही यथार्थ में तत्ववेत्ता है। शून्यके दो अर्थ है। स्वभावशून्य और प्रपञ्चशून्य। स्वभावशून्य निःस्वभावता है बुद्धि के द्वारा ग्राहय सभी पदार्थ निःस्वभाव है। क्योकि हमारी बुद्धि केवल सविकल्प पर विचार कर सकती है। हम सत्–असत् उभय–नोभय रूप मे विचार करते है। परन्तु कोई भी विकल्प सत् नहीं। यह केवल बुद्धि का प्रपञ्च है। अतः सविकल्प बुद्धि सापेक्षिक है। इसी सापेक्षिक बुद्धि से ही संसार की व्याख्या होती है। संसार भवचक्र है। इसे द्वादश निदान भी कहते है। तथा यही प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा जाता है। और यही सिद्धान्त संसार चक्र की व्याख्या करता है।

अत. स्पष्ट है, कि एक निदान दूसरे निदान पर आश्रित है। जैसे जरा मरण जाति पर, जाति भवपर आश्रित है। सभी में अन्योन्यापेक्षा है। जिसका अपना कोई स्वभाव नहीं वह निःस्वभाव है। मिथ्या है असत् है तथा इसका विनाश निर्वाण मे होता है निर्वाण प्रतीत्यसमुत्पाद का सर्वथा विनाश है यदि प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंञ्च है तो निर्वाण इस प्रपंञ्च का उपशम है। यही शून्यता है यह शून्यता पारमार्थिक ज्ञान का विषय है इसमे बुद्धि के सभी विकल्प शान्त हो जाते है यह निर्विकल्प अनुभूति या बोधि है। इसी प्रकार व्यवहार रूप में जो

दशा मे हमे संसार प्रतीत होता है। वही परमार्थ में निर्वाण कहलाता है, यही मध्यमा है।

तात्पर्य यह है कि ससार क्लेश– कर्मरूप है । इसका क्षय ही निर्वाण है ससार प्रपंञ्च है, तथा प्रपञ्च का अभाव ही निर्वाण हैं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से शून्यता (निर्वाण) प्रपञ्च शून्यता हैं जो अज्ञान के कारण क्लेश कर्मरूप संसार है। इस प्रकार शून्य स्वभाव शून्य अर्थात् अनिर्वचनीय है शून्य परमतत्व का यथार्थ बोध करने वाला ही माध्यमिक है यह मध्यममार्गी है।

माध्यमिको के अनुसार बुद्धोपदिष्ट मार्ग शून्यता ही है इसे मध्यमाप्रतिपद कहते है। साधरणतः शून्य शब्द का अर्थ असत् या अभाव है अतः 'सर्वशून्यम्' का अर्थ "सबकुछ नही है" है अर्थात् सकलसत्ता का निषेध समझा जाता है। इसी के कारण शून्यवाद को सर्ववैज्ञानिकवाद भी कहा जाता है। परन्तु माध्यमिको के अनुसार शून्य अभाव नही, नागार्जुन के अनुसार शून्य परमतत्व निर्वाण है इसे जानने के लिए निर्विकल्प अनुभूति की आवश्यकता है।

सविकल्प बुद्धि या ज्ञान सर्वदा सत् असत् उभय और नोभय रूप से होता है। परमतत्व निर्वाण या शून्य तो बुद्धि के सभी विकल्पो के परे है। अत. शून्य तत्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा गया है। इसे बौद्धिक ज्ञान का विषय समझना जो विषधर सर्प को असावधानी से पकड़ने के समान भयंकर भूल है। शून्य परमतत्व है। जो अनिर्वचनीय है।

हीनयान के आचार्यो के अनुसार बुद्ध के शून्य का तात्पर्य पुद्गल नैरात्म है। उनके अनुसार आत्मा या जीव एक प्रकार के संघात या समुदाय है। देह, इन्द्रियॉ, मन, आदि स्कन्धों की सत्ता अलग–अलग है।

बौद्ध दर्शन के आविर्भाव काल से ही उसकी तत्व विषयक अवधारणा विवादास्पद रहीं। निर्वाण आत्मा मरणोत्तर जीवन तत्व, परमार्थ, आदि से सम्बन्धित प्रश्नो को अव्याकृत प्रश्न कहा गया है। इस सन्दर्भ में बोधिसत्व महात्मा बुद्ध की मौन को भी विवादस्पद बना दिया गया। प्राय. बौद्ध धर्म के समीक्षक का दावा है बुद्ध के मौन का अर्थ परमार्थ तत्व का निराकरण नहीं है। बुद्ध का मौन निर्वाण एव तत्व के स्वरूप की सामान्य बुद्धि भाषा आदि के द्वारा अग्राह्य होना है। इसीलिए कहा गया है।

'अवचनम् बुद्धवचन' उनका मौन स्वीकारात्मक अर्थ मे ग्रहण किया गया। इस सन्दर्भ मे माध्यमिको ने बुद्ध के मौन को भावात्मक रूप में ग्रहण किया है। किन्तु अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य ने माध्यमिक शून्यवाद 'सर्वप्रमाणविप्रतिसिद्धि कहकर उसकी निन्दा की है।

शंकराचार्य के अनुसार शून्यवाद की आलोचना करके उसको महत्व प्रदान करना। तर्कतः असंग होगा क्योंकि शून्यवादी सर्ववैनाषिक है।

इससे स्पष्ट होता है कि अद्वैत वेदान्तियो और वेदान्त के परम्परा के अधिकांश आचार्यो ने शून्यवाद को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण किया है। परन्तु नागार्जुन और उनकी परम्परा के अन्य बौद्ध आचार्यो के द्वारा निरूपित बौद्ध दर्शन के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि बौद्ध आचार्यो ने शून्यपद का प्रयोग शाब्दिक अर्थ में नहीं किया है। यह समस्त दृष्टियों बौद्धिक कोटियॉ भाषा आदि से परे है। अतः शून्यता कोई दृष्टि नहीं है। बल्कि समस्त दृष्टियो को निषिद्ध करती है। शून्यता के बारे मे कहा गया है । **शून्यता दुःख शमनीं तत् किम् जायते भयं अभये भयं दर्शिनः।**

प्राय शून्य शब्द का प्रयोग व्यावहारिक एव पारमार्थिक दोनो शब्दों मे किया है। रत्नावली मे आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जिस प्रकार एक व्याकरणाचार्य अपने शिष्यो को वर्णमाला और मात्रा भी पढाते है उसी प्रकार भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्यों को उनकी बुद्धि के अनुसार भिन्न–भिन्न उपदेश दिये।

श्रावको को उन्होने 'सत् या अस्ति' की शिक्षा दी ताकि वे लोग अशुभ कर्मो का त्याग कर के शुभ कर्म करे और अपनी बुद्धि सत्व शुद्धि करे। प्रत्येक बुद्धोको उन्होने 'असत् या नास्ति' की शिक्षा प्रदान की जिससे कि लोग अहकार एव मायामोह का त्याग कर सके, तथा बोधिसत्वो को उन्होने अपनी सर्वोच्च शिक्षा 'सद्सद्तीत' या 'अस्ति नास्ति व्यतिक्रम' की शिक्षा दिया, जिससे सभी लोग सब प्रकार के द्वैत से उठकर अद्वैत की शरण ले सकें।

शून्यवादी नास्तिक न होकर पक्के आस्तिकवादी है या अद्वैतवादी है। नागार्जुन के अनुसार नास्तिक दुर्गति को तथा आस्तिक सुगति या स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। किन्तु यथार्थ ज्ञाननिष्ठ शून्यवादी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विशुद्ध ज्ञान मे बुद्धि का समस्त द्वन्द्वो का सत् और असत् का अस्ति और नास्ति का पुण्य और पाप का सुगति और दुर्गति का व्यतिक्रम हो जाता है। और इसीलिए विद्धान उसे मोक्ष कहते है। सत् और असत् दोनो आपेक्षिक है। और इसीलिए मिथ्या है। असत् केवल सत्के प्रतिपक्ष के रूप मे संभव है। किन्तु जब सत् ही नहीं तो प्रतिपक्ष कहाँ से आ जायेगा।

पारमार्थिक दृष्टि से यह जगत् सद्–सद् विलक्षण है सत्यानृतातीत है, और इस कारण अनिर्वचनीय तथा मिथ्या है पक्ष और विपक्ष दोनो मिथ्या है, केवल संपक्षरूप तत्व ही सत्य है।

नागार्जुन के अनुसार शून्यवादी सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का सर्वोत्कृष्ट यह सिद्धान्त है । साख्य, बैशेषिक, जैन, पुदगल, तथा स्कन्धवादी हीनयानी बौद्ध से शब्दो मे क्या वे जगत को सद्–सद् विलक्षण बतलाते है।[1]

जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है। वहीं अप्रतीति और अनुपादन की दृष्टि से निर्वाण है। जो संवृत्तिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद है। वही पारमार्थिक दृष्टि से प्रपंञ्चो एवं शिवतत्व है, तथा बुद्धि के अनुसार व्यवहार है। वही ज्ञान की दृष्टि से परमार्थ है। वास्तव मे अभेद और अद्वैत है। अतः संसार और निर्वाण मे संवृत्ति तथा परमार्थ में जगत और तत्व मे किंचित मात्र भी अन्तर नहीं।[2]

यहाँ प्रपञ्च शान्त हो जाता है तथा बुद्धि ज्ञान बन जाती है केवल स्वानुभूति या विशुद्ध ज्ञान रह जाता है, दर्शन मौन हो जाता है इस दृष्टि से भगवान बुद्ध ने किसी को कभी कही और कोई उपदेश नहीं दिया। भगवान ने लोगों पर दया करके करके व्यावहारिक दृष्टि से बुद्धि की कोटियों के पार जाने के लिए सद्धर्म का उपदेश दिया है। यही दर्शन का महत्व है क्योकि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं।[3] यही उत्कृष्ट शून्यवाद है।

१– पक्षादिप्रतिपक्षः स्यादुभयं तच्चनार्थतः ।

इति सत्यानृतातीतो लोकोऽयं परमार्थतः ।। माध्यमिक कारिका २/४–५

२– य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा ।

सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते।।

3– निर्वाणस्य च या कोटि कोटि संसरणस्य च।

नं तयोरन्तर किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते।। माध्यमिक कारिका २५/६/२०

जिसने शून्यता को समझ लिया उसने सब कुछ जान लिया। जिसने शून्यता को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना।

आचार्य नागार्जुन के विख्यात शिष्य आचार्य आर्यदेव संसार को अलात्‌चक्र, स्वप्न, मात्र, प्रतिभास, प्रतिध्वनि, मरीचिका, धूम, अभ्र, के समान असत्य और क्षणिक मानते है किन्तु वे भी असत्य को नितान्त असत् नहीं मानते। व्यावहारिक दृष्टि में संसार की सत्यता उन्हे मान्य है। वे अहंकार को झूठे 'नैरात्म' या असत्यवाद से कही श्रेष्ठ समझते है। शून्यता के नाम से असत् थर्राता है। सच्चा नैरात्म शून्यता है। यह कुमति पुरूषो के लिए भयकर और सज्जनो के लिए श्रेयस्कर है यह अद्वितीय शिवद्वार है। यह केवल सम्बुद्धो के साक्षात्कार का विषय है बुद्धि गोचर नहीं।[1]

जैसे म्लेच्छ को अन्य भाषा में नहीं समझाया जा सकता है उसे समझाने के लिए उसकी म्लेच्छ भाषा का ही व्यवहार करना पड़ता है। वास्तविक रूप से शून्यवादी की कोई प्रतिज्ञा नहीं कोई पक्ष नही, कोई प्रमाण नहीं, और इसीलिए शून्यवाद में कोई दोष भी नहीं। जिसका सत् असत् या सद्–सद् कोई भी पक्ष नहीं। उस शून्यवाद का निराकरण चिरकाल तक असंमव है।[2]

१– अहंकारोऽसत: श्रेयान् न तु नैरात्म्यदर्शनम्।
अस्य धर्मस्य नाम्नोऽयि भयमुत्पद्यतेऽसत: अद्धितीयं शिवद्वारं कु द्रष्टीनां भयंकरम्।। चतु:शतक माध्यमिक कारिका पृ०सं० ३२५

२– सद्सत् सद्सच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालंभश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।। वही पृ०सं० ४००

तत्व वाद–विवाद का विषय नहीं। यह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। और विशुद्ध ज्ञान शुद्ध आत्मा या 'चित्त' है। विद्वान का दायित्व होता है कि इस अविद्या पंक को नष्ट कर इस चित्तरत्न को चमकावे । अविद्याा 'भ्रान्ति' है। जिस प्रकार युक्ति के ज्ञान से शुक्ति रजत उड़ जाता है। उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञान प्राप्ति से अविद्या विलीन हो जाती है। अविद्या विलुप्त हो जाती है यह कथन भी व्यवहारमात्र है क्योकि वास्तव में 'चित्त' स्वभाव से ही स्वतः, सिद्ध, स्वयं प्रकाश, आदि शुद्ध अनुत्पन्न और अनाविल है।

सांवृत्तिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों के अज्ञान पर निर्भर है। परमार्थतः हमारा कोई प्रतिज्ञा, कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि तत्व प्रतिज्ञा प्रमाण के ऊपर है। संदेह और प्रमा दोनो सापेक्ष हैं। हमें कोई सन्देह नहीं, इसलिए हमारी कोई प्रमा भी नहीं। जब प्रमा ही नहीं तो प्रमाण भी नहीं। तब हम व्यर्थ ही क्यों प्रमा और प्रमाण के झंझट और जंजाल में फंसे। वास्तव में हमारा दर्शन मौन। वहॉ वाणी और बुद्धि की प्रवृत्ति नहीं।[1]

शून्यवाद के अन्तिम आचार्य शान्तिदेव अपने 'बोधिचर्यावतार' में तत्व को विशुद्धि बोधिरूप 'चित्त' बोधिसत्व मानकर मार्मिक छन्दों में उसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की जाती है। शान्तिदेव या बोधिचित्त स्वानुभूतिरूप स्वतः सिद्ध स्वयं प्रकाश विशुद्ध ज्ञान है यह अद्वय है, शिव देव बन जाता है। इसमें एक अशुचि एवं अज्ञानी मानव को अत्यन्त विशुद्ध सम्यक् सम्बुद्ध बना देने की क्षमता है।[2]

१– परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णीभावः ।

कुतस्तत्र वाचा प्रवृत्तिः ।। वही पृ०सं० ५७, ४६१

२– अशुचिप्रतिशामिमां गृहीत्वाजिनरत्नप्रतिमांकरोत्यनर्धाम् ।

रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढ़ गृहणत् वोधिचित्त संज्ञम्।। वही ८/१०८

जो इस ससार के भीषण दु:खों से बचना चाहता है। जो सन्तप्त प्राणियो के व्यसनो से बचना चाहता है और जो आनन्दसागर में निमग्न होना चाहता है। उसे इस बोधिचित्त को कभी नहीं छोडना चाहिए। तथा हमे अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करना पडेगा। और केवल पढने से कुछ नहीं होगा, यदि कोई रोगी औषधि सेवन न करे और केवल चिकित्सापत्र पढे तो उसे कोई लाभ नही प्राप्त होगा। जब सब प्राणी मेरे समान सुख चाहते है और दुःख एवं भय से घृणा करते है। तो मुझमें ही ऐसी कौन सी विशेषता है कि मैं अपनी ही रक्षा करूँ और की नही। बोधिसत्व अपने निर्वाण को स्वीकार नहीं करता, उसे दु:ख संन्तप्त प्राणियो के उद्धार में ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा।

तत्व या सत्य के दो रूप है। संवृत्ति और परार्थ। संवृत्ति सविकल्प और सापेक्ष बुद्धि का नाम है, एवं परमार्थ बुद्धि द्वारा अगोचर निष्प्रपंञ्च निर्विकल्प एवं निरपेक्ष तत्व या विशुद्ध ज्ञान को कहा जाता है। जिस प्रकार स्वप्न का बोध जाग्रतावस्था में होता है उसी प्रकार संवृत्ति का बोध परमार्थ में होता है। यहाँ बुद्धि की कोटियाँ एवं विकल्प शान्त हो जाते है, बिना ज्ञान के स्वप्न में भी मुक्ति नहीं हो सकतीं। शून्यता समस्त दु:खों को नष्ट करने वाली है।

शून्यता ही परमानन्द एवं विशुद्ध ज्ञानरूपी शिव और अद्वय तत्व है शून्यता ही अभय स्थान है तथा लोग इससे भयभीत होते है ।[1]

तत्व प्रपंञ्च शून्य है अद्वय है, शिव है और केवल विशुद्ध ज्ञान द्वारा साक्षात्कार का विषय है किन्तु व्यवहार को ठुकरा देने पर परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवहार की सीढ़ी पर चढ़कर ही परमार्थ के महल पर पहुँचा

१— शून्यतैव सर्द प्रपंच निवृत्ति लक्षणंत्वान् निर्वाणमित्युच्यते। वही पृ०सं० ३५

जा सकता है, व्यवहार यान द्वारा ही परमार्थ तट की प्राप्ति संभव है। व्यवहार के बिना परमार्थका उपदेश नहीं दिया जा सकता, और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असभव है। संवृत्ति आवरण को कहते है, यह तत्व को छिपाती है यह विक्षेप रूप भी है, क्योंकि इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद या परस्पर संभवन या अन्योन्यापेक्षा कहते है यह नामरूपात्मक है।

परमार्थ हमारा कोई प्रतिज्ञा कोई प्रमाण नही, क्योंकि तत्व प्रतिज्ञा प्रमाण के ऊपर है। सन्देह और प्रमा दोनो सापेक्ष है। हमें कोई सन्देह नहीं इसलिए हमारी कोई प्रमा भी नहीं, जब प्रमा ही नही, तो प्रमाण भी नहीं, तब हम व्यर्थ ही क्यो प्रमा और प्रमाण के झंझट और जंजाल में क्यो फसे।

वास्तव मे हमारा प्रदर्शन मौन है। वहाँ वाणी और बुद्धि की प्रवृत्ति नहीं।[1] स्वयं आचार्य नागार्जुन 'तत्व' की सत्ता स्वीकार कर उसका लक्षण स्पष्ट करते है। जो विशुद्ध ज्ञान द्वारा अपरोक्षानुभूति से साक्षात् किया जा सके। जहाँ सापेक्ष बुद्धि की समस्त कोटिया और धारणायें संन्तुष्ट होकर शान्त हो जाये, जो सम्पूर्ण प्रपंञ्च से शून्य हो जहाँ मानवीय बुद्धि के सारे विकल्प, तर्क–वितर्क, विचार, सन्देह आदि विलीन हो जाये जो अद्वय रूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो वही तत्त्व है।

बौद्ध दर्शन में दो दृष्टिकोणो से सत्य का निरूपण किया जाता है एक तो संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। जो इस विभाग को नहीं जानते, वे भगवान बुद्ध के 'गम्भीर' दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते।[2]

१– परमार्थो आर्याणां तूष्णीभावः । वही पृ०सं० ५७, ४६

कुतस्तत्र वाचा प्रवृत्ति.।। – डा० सी० डी० शर्मा पृ०सं० ५०

२– अष्टासाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता – पृ०सं० १, ३, १७६, २००, ३४३, ३४८

संवृत्ति एक प्रकार का आवरण है जो वास्तविक सत्य को छिपायें रहता है, यह व्यवहार मात्र है यह केवल संकेतमात्र है, यह प्रज्ञप्ति धर्म है। अन्ततोगत्वा यह सत्य नहीं सिद्ध होता। किन्तु इसका असत्यत्व केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही अनुभव किया जा सकता है। व्यावहारिक दशा में इसकी सत्ता कभी अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

यद्यपि यह सत्य विभाग बुद्धिकृत होने से व्यवहार मात्र है तथापि व्यवहार दशा में यह सर्वथा मान्य है।

हीगेल के अनुसार दर्शनशास्त्र ज्ञान की यात्रा है बुद्धि का विकास है, विचारधारा की प्रगति है, ज्ञान की प्रगति 'रिक्त' या केवल सत् से प्रारम्भ होकर असत् मे होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई सद्–सत् में व्याप्त रहते हुए भी सद्सद् विलक्षण 'विशुद्धता पूर्णसत्' की ओर होती है, जो वस्तु मानवी बुद्धि द्वारा ग्राहय हो जाए। उसे आप निश्चित रूप से कृतिम 'स्वभावशून्य' लक्षणहीन एवं मिथ्या समझ लेते है।

क्योंकि बुद्धि कभी अपने आपको ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान या ग्राहक–ग्राह्य और ग्राह की त्रिपुटी से मुक्त नहीं कर सकती और जो वस्तु इस त्रिपुटी के सर्वव्यापक जॉल में फंसी हुई हो, वह निश्चित रूप से मिथ्या है, सत्य नहीं, तत्व या सत्य पदार्थ अविसंवादीपूर्ण अद्वय और व्यापक होता है। और ये लक्षण केवल स्वानुभूति में ही प्राप्त होते हैं। अतः केवल स्वानुभूति ही तत्व है। शेष सब कुछ इस तत्व का आभास मात्र है।

किन्तु ब्रैडले के मत में इस तत्व के भीतर सब आभास घुल–मिल जाने पर भी अपने–अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते है और वे केवल साक्षात्कार [illegible] पर्ण. और व्यापक बन जाते है। मानवी बुद्धि इस तत्व के वृत्त का स्पर्श

मात्रकर सकती है। इसके अन्दर घुस नहीं सकती है। अतः बुद्धि को जो तत्व का एक अंग मात्र है। तत्व बनने के लिए आत्मघात् करके स्वानुभूति की शरण लेनी पडती है। ब्रैडले हीगेल के इस तत्व को स्वीकार कर लेते है कि तत्व अविसंवादी पूर्ण और अद्धय है। एव जगत प्रातिभासिक पदार्थो में व्याप्त है।

प्रसिद्व दार्शनिक वर्गसॉ के मत में तत्व एक आदि मौलिक प्राणशक्ति (Elan Vital) हैं जो सदाप्रगतिशील हैं। जब हम यह कहते हैं कि विश्व क्षण–क्षण परिवर्तनशील है तो वास्तविक रूप से हमारा यह कथन वाणी का आडम्बर मात्र हैं। क्योंकि कोई वस्तु ऐसी नहीं हैं जो परिवर्तित होती हो। केवल अन्त परिवर्तन ही विद्यमान हैं।

जगत और बुद्वि दोनो अन्योयापेक्षा है जगत तत्व की उल्टी धारा हैं। जीवन प्राणशक्ति की सुलटी धारा है प्राणशक्ति ही तत्व है। यह निसार धारा प्रवाह हैं। इस धारा के जो छीर्टे पीछे उलट कर गिरते हैं और आगे बहनें वाली धारा का साथ छोड़कर एक जगह रूक जाते है। वे छीर्टे ही जड़ जगत हैं ।

ब्रैडले के अनुसार अन्तर्विरोध से ग्रस्त होने के कारण समस्त वैचारिक कोटियॉ आभास हैं। हमारे सम्बन्धात्मक अनुभव उपेक्षणीय हैं क्योकि वे वास्तविक नहीं हैं। इस प्रकार वे देशकाल, कारणता, संवृत्तिवाद, और पारमार्थिक स्वलक्षणों के स्वरूप का विश्लेषण करके सिद्व करता हैं। कि सब सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। चूँकि सम्बन्ध एवं गुण आभास हैं। इसलिए उनपर आधारित ये समस्त कोटियॉ अन्तर्विरोधग्रस्त है।

अतः ये सभी अभास हैं। यहॉ तक कि ब्रैडले ने ईश्वर को भी एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया हैं। क्योकि ईश्वर भी सम्बन्धो की अपेक्षा रखता हैं। चूँकि ईश्वर इस सृष्टि का रचयिता है। इसीलिए वह किसी

न किसी रूप में सृष्टि से सम्बन्धित है। इस प्रकार ईश्वर भी सम्बन्धों से युक्त हो जाता है। अतः ब्रैडले के दर्शन में ईश्वर सम्बन्धों से ऊपर नहीं उठ सकता है।

पाश्चात्य दर्शन मे ब्रैडले के द्वारा प्रयुक्त खण्डन की यह प्रणाली महत्वपूर्णहै। इसी प्रकार की प्रणाली का प्रयोग भारतीय दर्शन में माध्यमिक बौद्धों (शून्यवादियों) ने भी किया है। इसे द्विविभाजन की प्रणाली कहा जा सकता है। इस पद्धति का प्रयोग करके ब्रैडले यह दिखाना चाहता था कि तत्व के स्वरूप का तार्किक विश्लेषण करने से हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है।

इस प्रकार सभी बौद्धिक कोटियाँ आत्मव्याघाती है इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने विचार की चतुष्कोटियों के माध्यम से तत्व ज्ञान को असंभव माना है।[1] माध्यमिको के अनुसार बौद्धिक कोटियों के द्वारा तत्व के स्वरूप का अनुशीलन करने से वह छिन्न–भिन्न हो जाता है।

ब्रैडले के समान नागार्जुन ने भी अपनी माध्यमिक कारिका में उत्पत्ति, जाति, कारण, कार्य, आदि के स्वरूपमें विरोध दिखाकर उनका खण्डन किया है। इस प्रकार माध्यमिको की तर्कप्रणाली विश्लेषणात्मक एवं ध्वंसात्मक है। क्योंकि यह किसी पक्ष का मण्डन नहीं करती है किन्तु ब्रैडले का दर्शन केवल निषेधात्मक (ध्वंसात्मक) ही नहीं है।

उनके अनुसार द्रब्य एवं गुण, सम्बन्ध एवं गुण इत्यादि कोटियों के खण्डन के मूल में मण्डन छिपा हुआ है। अर्थात् उसके द्वारा किये गये ध्वंस के मूल निर्वाण निहित है। चूँकि विचार की विभिन्न कोटियां सम्बन्ध सापेक्ष होने के कारण खण्डित हो जाती है। इसीलिए परोक्षतः यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ

१–पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव एवं विकास–डा० हरीशंकर उपाध्याय पृ०सं० ३५५

सम्बन्ध नहीं है। वहाँ विरोध नहीं है। अतः जो असम्बान्धक एवं अवाधित है। उसे ही निरपेक्ष सत् कहा जा सकता है।

ब्रैडले के अनुसार अनेकता मिथ्या नहीं है। बल्कि आभास है आभासों का निरपेक्ष सत्ता के अन्तर्गत कही न कहीं स्थान अवश्यक होना चाहिए। इसके विपरीत शँकराचार्य के दर्शन में ब्रह्म के अन्तर्गत अनेकता का कोई स्थान नहीं है।

शँकराचार्य अपने ब्रह्म को 'एक नहीं कहते है' क्योंकि एक और अनेक परस्पर सापेक्ष होने के कारण मिथ्या है। एक कहने मात्र से अनेकता की व्यंजना हो जाती है। यहीं कारण है कि अहैती अपने दर्शन को एकतत्ववाद न कहकर के अद्वैतवाद कहते है। अद्वैतवाद का शाब्दिक अर्थ होता है द्वैत का न होना यह एक प्रकार से निषेधात्मक दृष्टि है।

ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत अनेकता सामंजस्यपूर्ण हो जाती है इस प्रकार उसका अन्तर्विरोध समाप्त हो जाता है क्योंकि निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत किसी प्रकार की विसंगति नही पायी जाती है। ब्रैडले का निरपेक्ष सत् सामान्य होते हुए भी अनेकताओं में अर्न्तव्याप्त है। वह अनेक स्थूल एवं सीमित इकाइयों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। जबकि प्लेटो के अनुसार शुभ का प्रत्यय विशेषों से परे हैं।

ब्रैडले का निरपेक्ष सत् पूर्ण हैं उसमें विचार भावना एवं संकल्प ये तीनों तत्व अपनी समग्रपूर्णता में अन्तर्निहित हैं। 'निरपेक्ष सत् से प्रथक' रूप में विचार भावना एवं संकल्प ये तीनों अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं। चूंकि परम् सत् के अन्तर्गत सभी स्तरों के विरोध, अपूर्णताएं एवं सापेक्षता

समन्वित रूप में स्थित है। इसलिए परम सत् के अर्न्तगत सभी स्तरों के विरोध, अपूर्णताए एवं सापेक्षता स्थित है इसलिए परम सत् प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है।

निर्वाण -

नागार्जुन के अनुसार जन्म–मरण निरोध ही निर्वाण है क्योंकि जन्म–मरण तो तृष्णा के कारण होता है, और जब तृष्णा पूर्णरूपेण समाप्त हो जाती है। तो जन्म–मरण अर्थात् भवचक्र भी निरूद्ध हो जाता है। यही निर्वाण है। निर्वाण दो प्रकार का माना जाता है। सोपाधिशेष और निरूपाधिशेष। प्रथम अवस्था में अविद्याा राग आदि की सर्वथा समाप्ति हो जाती है। परन्तु प्रपंञ्च उपादान स्कन्ध रहते है। अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों से रहित अवस्था है। परन्तु इसमें साधक का शरीर विद्यमान रहता है। क्लेशरहित स्कन्ध समाप्त हो जाता है। क्योंकि शरीर के रहने पर साधक वेदना का अनुभव करता है। परन्तु जब शरीर समाप्त हो जाता है। तो वेदना एवं क्लेश समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते है। कि प्रथम जीवनन्मुक्त तथा दूसरा विदेह मुक्त की अवस्था है। किन्तु कुछ महायान दार्शनिक नागार्जुन के मत का खण्डन करते है। कि जब सब कुछ शून्य है। तो न तो किसी की उत्पत्ति होती है। और न किसी का निरोध, तो निरोध से किसका निर्वाण होता है।[1] बन्धन और मोक्ष संसार और निर्वाण दोनो आपेक्षिक है अतः मिथ्या है।

जब संसार ही नहीं तो निर्वाण कहाँ से होगा, जब संसार नाश और निर्वाण प्राप्ति दोनो असंभव है। तो संसार और निर्वाण की कल्पना व्यर्थ है।

१– यदि शून्यमिदं सर्व उदयो नास्ति न व्ययः ।

प्रहाणाद्वानिरोधाद्वा कस्यानिर्वाणमिष्यते।। – माध्यमिक कारिका २५/१

नागार्जुन के अनुसार हीनयान का निर्माण सन्तोषजनक नहीं ये द्वन्द्वन्याय (चतुष्कोटिक तर्क) के द्वारा निर्वाण की परीक्षा करते है। उनके अनुसार निर्वाण भावरूप नहीं जन्म–मरण आदि भावरूप है। निर्वाण जरा–मरण रूप नहीं जरा–मरण तो सकारण है तथा जो सकारण है। वह संस्कृत तथा सोपादान कहलाता है। निर्वाण अन्य संस्कृत धर्मो के समान पञ्चस्कन्धों पर आश्रित नहीं अतः निर्वाण भावात्मक नही।[1] यदि यह भावरूप नहीं तो अभाव रूप होगा। क्योंकि अभाव तो भाव सापेक्ष है अर्थात् जिसका भाव होगा, उसी का अभाव हो सकता है। निर्वाण का जब भाव नहीं तो अभाव भी नहीं।[2]

नागार्जुन के अनुसार यदि निर्वाण अभाव है तो अनुपादाय नहीं हो सकता है। अर्थात् अभाव अनुपादाय नहीं हो सकता।[3] कुछ लोग निर्वाण को उभयरूप अर्थात् भाव और अभाव दोनो रूप मानते है। निर्वाण जन्म मरण का अभाव है। तथा स्वयं में भावरूप है। नागार्जुन इसे नहीं स्वीकार करते है। क्योंकि भाव अभाव तो परस्पर विरोधी है। ये दोनो एक साथ नही हो सकते। अर्थात् भाव एवं अभाव दोनों में कोई नहीं हो सकता तथा भाव एवं अभाव दोनो का एक साथ निषेध नही हो सकता इस प्रकर निर्वाण न भाव है न अभाव है न उभय है न नोभय है।

१– भावश्च यदि निर्वाण सॅंस्कृतं भवेत् ।

ना सॅंस्कृतो हि विद्यते भावः क्वचनकश्यन ।। – माध्यमिक कारिका २५/५

२–यदि भावो न निर्वाणाम् भावः कि भविष्यन्ति ।

निर्वाणं यत्र भावो न नाभवस्तल विद्यते।। – माध्यमिक कारिका २५/६

३– यद्यः भावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम् ।

निर्वाण न ह्यभावोऽस्ति योऽनुपाय विद्यते।। – माध्यमिक कारिका २५/८

नागार्जुन स्वयं निर्वाण की परिभाषा दी है उनके अनुसार निर्वाण अप्रहीण, असंम्प्राप्त, अनुच्छिन्न, अशाश्वत, अनिरूद्ध और अनुत्पन्न है।[1] राग आदि के समान जिसका विनाश नहीं होता, वह अप्रहीण है। जो श्रामण्य फल के समान प्राप्त नहीं होता, वह असंम्प्राप्त कहलाता है। जो सस्वभाव वस्तु के समान नित्य नहीं वह अनित्य या अशाश्वत है। जो निरूद्ध या नष्ट नहीं होता, वह अनिरूद्ध है जो उत्पन्न नहीं होता वह अनुत्पन्न है।

इस प्रकार इन छह नकारात्मक विशेषणों के द्वारा नागार्जुन निर्वाण की परिभाषा देते है। उनके अनुसार निर्वाण बुद्धि के विकल्पों से मुक्त सभी सांसारिक प्रपंञ्चों के परे शान्त और शिव अवस्था है। निर्वाण निष्प्रपंञ्च निर्विकल्प अनुभूति है।

नागार्जुन के अनुसार निर्वाण को संसार का अभाव और संसार को निर्वाण का अभाव समझना भूल है। वस्तुतः कोई भाव ही नहीं जिसका अभाव हो। अस्तु संसार और निर्वाण एक ही है। संसार प्रपंञ्च है। निर्वाण प्रपंञ्च का उपशम है। जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार हैं वह अप्रतीति और अनुपादाना की दृष्टि से निर्वाण है। व्यावहारिक अथवा संवृत्ति से।

जो संसार है। वह पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण है दोनों में कुछ भेद नहीं। इस अभेद की दृष्टि से भगवान बुद्ध ने कोई उपदेश नहीं दिया। उन्होने दुःख से संन्तप्त प्राणियों पर दया कर बुद्धि विकल्पों को पार करने का उपदेश दिया। यह निर्विकल्प अनुभव निर्वाण है।

१— अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्न मशाश्वतम् ।

अनिरूद्धमनुत्पन्नमेतनिर्न्वाण मुच्यते।। माध्यमिक कारिका २५/३

निर्वाण चतुष्कोटिविर्निमुक्त है। यदि निर्वाण को भावरूप में मान लिया जाए तो अन्य भावों के समान वह भी जन्म–मरणशील एवं संस्कृत धर्म बन जायेगा। तथा यदि इसके अभाव रूप को माना जाए तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होगी। तथा अभाव–भाव सापेक्ष होता है। अर्थात् प्रकाश है और अंधकार के समान भाव तथा अभाव एक साथ नहीं रह सकते। यदि निर्वाण को भावाभाव भिन्न माना जाए तो निर्वाण का ज्ञान ही नही हो सकता । निर्वाण निरपेक्ष अद्वैततत्व है। निर्वाण को सर्वदृष्टिप्रहाण माना गया है।

चन्द्रकीर्ति ने निर्वाण को 'निरवशेषकल्पनाक्षयरूप' कहा है।[1] वह प्रपंञ्चोंपशम् और शिव है। स्वानुभूतिगम्य है। निर्वाण ही शून्यता है। यह सब धर्मो की धर्मता है। जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है। वहीं अप्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। संसार और निर्वाण में रंञ्चमात्र भी अन्तर नहीं है। निरपेक्ष तत्व का निरूपण निषेधात्मक पदो से उपनिषद् की नेति–नेति के समान किया जाता है। किन्तु इससे तत्व के निर्वचन का ही निषेध होता है। स्वय तत्व का नहीं, परमार्थ मौन है।

इसलिए नागार्जुन ने प्रपंञ्चोपशम् पद के साथ 'शिवपद' भी जोड़ा है। और नागार्जुन ने निर्वाण या शून्यता के लिए 'तत्व' पद का प्रयोग भी किया हैं। जो अपरोक्षानुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। (अपरप्रत्यय) जहाँ बुद्धि की सारी कोटियाँ, कल्पनायें, धारणायें, संन्तुष्ट, होकर शान्त हो जाती है। (शान्तम्) जो सम्पूर्ण प्रपंञ्च से शून्य है। जो अतीन्द्रिय और बुद्धि विकल्पातीत है। (निर्विकल्पम्) जहाँ द्वैत और बहुत (नानात्व) विलीन हो जाए। वह अद्वैतानुभव ही तत्व है। यही तत्व का लक्षण है।

१– निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेवनिर्वाणम् । – माध्यमिक कारिका वृत्ति

तत्व प्रपंञ्च शून्य अद्वैत और शिव है। जिस प्रकार सलिलार्थी को पात्र की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले संवृत्ति के सहारे की आवश्यकता पडती है। व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता, तत्व उपेय या साध्य है यही संवृत्ति का महत्व है। निर्वाण सारी दृष्टियों का और सारे उपादानों का क्षय हैं। निर्वाण किसी अप्राप्य नई वस्तु की प्राप्ति नहीं है।

निर्वाण में निर्वाण प्राप्ति का बोध भी नहीं रहता। अविद्या निरोध ही निर्वाण है। अतः बंधन और मोक्ष दोनो संवृत्ति में ही असम्भव है। वस्तुतः न तो संसार का लय होता है न निर्वाण की प्राप्ति होती है जैसे प्रदीप–प्रकाश में रज्जु सर्प का नाश नही होता, और न रज्जु की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार संसार वस्तुतः है ही नहीं, तो उसके विलीन होने का प्रश्न नहीं उठता।[1]

जो सत् है उसका विनाश असम्भव है। क्योंकि उसकी त्रिकालाबाधसत्ता है। जो असत् है वह शशश्रृंगवत् तुच्छ है। और उसके विनाश का प्रश्न नहीं उठता। यह जगत यद्यपि प्रतीति मात्र है। तो भी हम इसे यथार्थ मानने लगते है। निर्वाण प्राप्ति के लिए हमें प्राचीन मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। दुःख और कष्ट आनन्द एवं सुख यह सब हमारी अविद्या के कारण ही है। मन ही सब प्रकार की आपत्तियों एवं दुःखों का आदिस्रोत है।

नैतिक सम्बन्ध का महत्व सीमाबद्ध संसार में ही है। यह ससार केवल प्रतीतिमात्र है यदि हम इसके यथार्थ सत्य को ग्रहण कर सके तो यह निर्वाण है

१– वस्तुकचिन्तायां तु संसार एवं नास्ति।

तत् कुतोऽस्यपरिक्षयः प्रदीपावस्था यां रज्जुरगपरिक्षयवत्।।

माध्यमिक कारिका वृत्ति २२०

सत्य ही परमार्थ तत्व है। जब निर्वाण प्राप्त हो जाता है, ज्ञान का अन्त हो जाता है तथा जीवन के बन्धन शिथिल हो जाते है। हम उस समय केवल निरूपाधि असृष्ट और रूपविहीन ही शेष रह जाता है। निर्वाण कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सके केवल अज्ञान से छुटकारा पाना चाहिए।

महायानियों के अनुसार निर्वाण प्राप्त हो जाने पर वोधिसत्व सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करके निर्वाण के पूर्णतायुक्त जगत मे पहुँचाने का प्रयास करता है वोधिसत्व परम कारूणिक होते है अतः वे सभी प्राणियों को भवसागर से पार करना चाहते है । यदि वोधिसत्व को प्राणियों का कोई विचार हो तो उसे वोधिसत्व नहीं कहा जा सकता हैं यहाँ तक वोधिसत्व के बारे में यथार्थता सम्बन्धी अवधारणा भी मिथ्या हैं।

वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य सत् या भाव मानते है जबकि सौत्रान्तिक मत के मानने वाले निर्वाण को अभाव मानते हैं। बैभाषिक निर्वाण के प्रश्न को स्थापनीय नहीं मानते है निर्वाण है और शाश्वत है यदि निर्वाण नित्य और शान्त न होता तो लोगों को उसमें रूचि न होती किन्तु इसके विपरीत सौत्रान्तिक निर्वाण को प्रज्ञप्ति मात्र मानते है। और इस कारण निर्वाण को अभाव कहते है निर्वाण प्राप्त मनुष्य शून्यता में विलीन होने के स्थान पर संसार में संसरण करने वाले जीवों की रक्षा के लिए स्थित रहना चाहता हैं।

निर्वाण में जो अभाव है वह द्रव्य—अभाव न होकर ज्ञान अभाव है वह ज्ञान से अज्ञान का खण्डन हैं अतः भाव और अभाव दोनों विज्ञान सत् हैं। तथा इन दोनों का मेल वोधि अवस्था में होता है । जहाँ शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान रहता हैं। अतः योगाचार के अनुसार निवार्ण भाव एवं अभाव दोनो हैं ।

किन्तु माध्यमिक निर्वाण के इस स्वरूप से असहमत हैं। उनके अनुसार निर्वाण शून्यता से भिन्न नहीं होता हैं। यदि निर्वाण भाव एवं अभाव दोनों हैं। तो संस्कारों का आत्म त्याग और उनका नाश दोनों निर्वाण होते । किन्तु संस्कारों को निर्वाण में कोई स्वीकार नहीं करता हैं। अतः निर्वाण भाव–अभाव या उभय नहीं हैं ।

बौद्ध धर्म में निर्वाण का काफी महत्व है निर्वाण बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य हैं। बौद्ध धर्म की चरम परिणति निर्वाण ही होती हैं यद्यपि बौद्ध मत में निर्वाण को लेकर काफी मतभेद हैं। फिर भी सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में निर्वाण की चर्चा अवश्य की हैं।

निर्वाण का अर्थ बुझना या शान्त हो जाना । जैसे दीपक स्नेह (तेल) अथवा बत्ती के शेष न रहने पर शान्त हो जाता हैं। वैसे ही सत्व के पंञ्चस्कन्धो का निवार्ण प्राप्त होना, उपरम हो जाना, और राग, द्वेष एवं मोह से विमुक्त हो जाना ही निर्वाण कहा जाता हैं इस प्रकार वह परम शक्ति को प्राप्त हो जाता हैं ।

अभिधर्म कोष भाष्य[1] में निर्वाण को सर्वथा प्रहाण, व्यन्तीभाव, क्षयनिरोध, ब्युपशम्, अस्तगंम, इत्यादि बताया गया हैं। वह दुःखो का अत्यन्त अनुत्पाद अप्रादुर्भाव बतलाया गया हैं। संयुक्त निकाय में इसे शान्तप्रणीत, समस्त उपाधियों का निरूद्ध होना, तृष्णाक्षय कहा गया हैं।[2]

१– अभिधर्मकोश भाष्य – पृ०सं० २८४

२– संयुक्त निकाय

धम्मपद में निर्वाण को 'अमृतपद' कहा गया हैं। संयुक्त निकाय में निर्वाण में अनेक पर्यायवाची शब्द आये हैं। निर्वाण, राग, द्वैष, एवं मोह का क्षय हैं। आचार्य नागसेन ने कहा हैं, जिस प्रकार जलती हुई आग की लौ बुझने पर पुनः दिखाई नहीं देती ठीक उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त सत्व भी दिखाई नहीं पडता। निर्वाण में दुःख लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। निर्वाण सुख ही सुख हैं ।

वैभाषिक निर्वाण को द्रब्य सत् मानते है इनका कहना हैं कि निर्वाण में जो हेतुफल परम्परा का उच्छेद हैं वह उच्छेद नहीं बल्कि उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रति लाभ हैं। निर्वाण अजात् एव अविपरिणामी हैं । वह क्लेश दुःख और भाव का निरोध है। वस्तु का अर्थ एक आकार दुःख विमोक्ष हैं ।

वैभाषिक निर्वाण को सत् मानते हुए भी अभावात्मक ही मानते हैं अर्थात् उनके मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप हैं।

सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं इनके अनुसार निर्वाण हेतु–फल परम्परा का उच्छेद हैं सौत्रान्त्रिक आकाश के तुल्य निर्वाण का प्रतिपादन करते है उनके अनुसार यह केवल अभावमात्र है निर्वाण केवल क्लेश का अभाव है सौत्रान्त्रिक मानते है कि जैसे अग्नि का निर्वाण है वैसे ही चित्त की विमुक्ति हैं। अग्नि का निर्वाण अग्नि का अत्यपमात्र है यह द्रब्य नहीं हैं।

दुःख का आत्यन्तिक निरोध निर्वाण कहा जाता है निर्वाण में दुःख का अनुभव नहीं होता है निर्वाण दुःख शून्यता है प्रतीत्य समुत्पाद दुःख का समुदय हैं वही दुःख का निरोध भी बताता है।

इस प्रकार निर्वाण के स्वरूप के बारे में उहापोह करना निरर्थक है इसको प्राप्त करने के उपाय में ही संलग्न होना सार्थक हैं।

द्वन्द्व न्याय

जैन का द्वन्द्वन्याय, सांख्य, न्याय और प्राचीन बौद्ध दर्शन की आलोचना कर जैन दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन दार्शनिकों ने 'तत्व' के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो तत्व के एक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य पक्ष का निर्देशन करता है किन्तु यह त्रुटिपूर्ण (नयाभास) हो जाता है जब वह अपने मत को पूर्ण सत् मान बैठता है।

इसलिए सही सिद्धान्त इन सब दार्शनिक सिद्धान्तों के समन्वय में निहित है जिसे अनेकान्तवाद की संज्ञा दी जा सकती है। उनका कहना है कि वस्तुओं के सम्बन्ध में दृव्यदृष्टि और गुणदृष्टि (द्रब्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय) दोनो ही तत्व के विषय में समान रुप से सत्य हैं। मूल विकल्प (मूल भंग) मात्र दो हैं भाव और अभाव अस्ति–नास्ति। इन्हें क्रमिक रुप से (क्रमार्पितो भयम्) युगपद् रुप से (सहारपितोभयम्) और अब्यक्तरुप से क्रमशः रखा जा सकता है।

इस प्रकार क्रम से वे इस द्विविध विकल्पों को सात रुपो में रखते हैं और सप्तभंगिनय की संज्ञा देते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार परमतत्व का वास्तविक रुप यही है। और तत्व का यह रुप एकान्तक नहीं अपितु अनेकान्तक है। **अनेकान्तात्मकं वस्तु** ।

हेगल भी एकान्तवाद का खण्डन करते हैं और उसे आंशिक सत्य मानते हैं। उनके अनुसार अंशी या अवयवी (समग्र) ही एकमात्र परमतत्व है न कि अंश हेगल विरोध को सिद्ध करने के लिए 'अनुभव' का सहारा नहीं लेते अपितु संम्प्रत्यय का तार्किक, विश्लेषण कर अपने सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं। हेगल का कथन है कि द्वन्द्वन्याय विचारमात्र अथवा तर्क या पद्धति मात्र नहीं है अपितु मार्ग हैं, संप्रत्यय से संम्प्रत्यय की ओर अभिसंक्रमण हैं जो सघः नतन अधिक

संग्राही और उच्चतर संम्प्रत्ययों का सृजन करता है यह बुद्धि की युगपद् विध्यात्मक और निषेधात्मक सम्पादन किया है। जो सत् के सम्पूर्ण निहितार्थ का दोहन करती है और इस अवस्था मे परिणत हो जाती है किन्तु यह प्रवर्तन यहीं नहीं रूकता अपितु एक नये संम्प्रत्यय को जन्म देता है। और चूँकि इस सम्प्रत्पय की निष्पत्ति सत् के विरोधी असत् के संयोग से हुई है।

अतः यह अधिक परिष्कृत पूर्ण और समृद्ध है और यह नूतन अवस्था पुनः एक प्रवर्तन को जन्म देती है इस प्रकार विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है वे इस प्रक्रिया को निम्नलिखित रूप में व्यक्त करते है।

१. वाद (थीसिसि)

२. प्रतिवाद (एण्टीथीसिसि)

३. संवाद (सिन्थीसिसि)

इस संवाद से पुनः एक वाद का आरम्भ होता है और अन्त संवाद में होता है और उसकी समाप्ति या चरम परिणति निरपेक्ष प्रत्यय के रूप में होती है। हेगल इस आरोप का कि समग्र द्वन्द्वन्यायात्मक प्रवर्तन प्रत्ययात्मक या औपचारिक मात्र है खण्डन करते है और कहते है कि विचार और परमतत्व अभिन्न है और विचार संरचना का अनुसंधान युगपद् परमतत्व का भी अनुसंधान है ।

हेगल और जैन के द्वन्द्वन्याय का अध्ययन करने से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते है कि हेगल का द्वन्द्वन्याय समग्रकारी संश्लेषण है प्रत्येक भूमि पर विकल्प एकत्रित होते है और उस अवस्था को पार कर आगे बढ़ाते है और इस प्रकार एक उच्चतर और निम्नतर दृष्टिकोण का जन्म होता है। जैन द्वन्द्वन्याय विकल्पों का एक वियोजक संश्लेषण है। इसे संश्लेषण की अपेक्षा

संयुक्तीकरण कहना अधिक उपयुक्त होगा। विचार की क्या क्रिया है इस बात पर हेगल और जैन दार्शनिकों में मतभेद है।

हेगल के अनुसार विचार सर्जनात्मक है जबकि जैन के अनुसार यह परमतत्व का प्रतिनिधि है। जैन दार्शनिकों का तर्कशास्त्र वस्तुवाद और बहुतत्ववाद का तर्कशास्त्र है जबकि हेगल का तर्कशास्त्र प्रत्ययवाद और निरपेक्षवाद का तर्कशास्त्र है। किन्तु दोनों ही इस बात पर सहमत है कि विचारगत भेद मात्र विचारगत भेद नहीं है अर्थात वे विषयिनिष्ठ मात्र नहीं है बल्कि वे परमतत्व के वास्तविक स्वरूप के सही अर्थ में निर्देशक हैं ।

किन्तु नागार्जुन उपर्युक्त विचारों के इस मत से सहमत नहीं हैं उसके अनुसार विचारगत भेद विशुद्ध रूप से विषयिनिष्ठ है और उन्हें जब विषयनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ रूप में ग्रहण करते है और परमतत्व का स्वरूप मान लेते है तों परमतत्व का मिथ्या स्वरूप प्रस्तुत करते है।

नागार्जुन के अनुसार किसी भी विषय के सम्बन्ध में चार ही दृष्टियॉं संभव है जिनमें मूलतः दो विकल्प है सत् और असत् अथवा भाव–अभाव।

इन्ही दोनों को युगपद् रखकर (उभय संकीर्णात्म) अथवा दोनों को युगपद् अस्वीकार कर (उभय प्रतिषेधस्वभावता) दो नई दृष्टियॉं बनती है इस प्रकार कुल चार दृष्टियॉं बनती है।

१. **वस्तु है**

२. **वस्तु नहीं है**

३. **वस्तु है और नहीं भी**

४. **न तो वस्तु है और न तो नहीं हैं ।**

आर्यदेव ने चतुःशतक में इसके विकल्पों की संख्या और क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया है।

सद असत् सद सच्चेति नो भंय चेतिचक्रमः ।

एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरे कत्वादिषु नित्यशः ।।

उपर्युक्त रूप में विद्वानों ने इस विधि का सदैव प्रयोग किया हैं हरिभद्र ने अभिसमया लंकारालोक में इसे और अधिक तार्किक रूप में प्रसतुतः किया है।

विधानं प्रतिषेधञ्च तावेव सहितौ पुनः ।

प्रतिषेधं तयोरेव सर्वथा नावगच्छति ।।

किसी सिद्धान्त की समीक्षा करते सर्वप्रथम उसका प्रथम वाक्य में विधान (स्वीकरण) करना चाहिए पुनः दूसरे वाक्य में उसका प्रतिषेध (निषेद) करना चाहिए पुनः दोनो को युगपद् रखना चाहिए कि सिद्धान्त विशेष या वस्तु विशेष विधान और प्रतिषेध दोनों हो सकती है और अन्तिम चौथे वाक्य में उन दोनों का निषेध करना चाहिए कि न तो विधान और न निषेध ही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं निष्कर्ष निकालना चाहिए कि नागार्जुन और उनके अनुयायी माध्यमिक दार्शनिक किसी सिद्धान्त के विधिमूलक और निषेधमूलक दो किनारों का परित्याग करके बीच की स्थिति को अपना सिद्धान्त मानते है। वे समझौतावादी नहीं हैं वे किसी मध्यम बिन्दु पर नहीं रूकते और न मध्यम बिन्दु कोई बिन्दु है अपितु उसके आगे बढ़ते है और उस बिन्दु पर पहुंचते है जो वाणी और बुद्धि विकल्पो के परे हैं।

वस्तुतः सभी दृष्टियों की समीक्षा होने के नाते यह लोकोत्तर है। वस्तुतः वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है जिसे माधवाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से बहुत ही अच्छी तरह व्यक्त किया है।

न सन्नासन् सदसन्न नोऽनुभयात्मकम् ।

चतुष्कोटिविर्निमुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ।।

माध्यमिक दार्शनिकों के अनुसार तत्व न तो अस्तिरूप है न नास्तिरूप है न उभयरूप है और न अनुभयरूप है । वस्तुतः यह उपर्युक्त किसी कोटि में नहीं समाहित होता यह चारों कोटियों के परे है चतुष्कोटिविर्निमुक्त है समाधिराज सूत्र के निम्नलिखित श्लोक में इस सिद्धान्त का पूर्णरूप दृष्टिगोचर होता है।

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता सुद्धी असुद्धीति इमेपि अन्ता ।

तस्मादुत्रे अत्र विवर्जयित्वा मध्योऽपि स्थानं न करोति पण्डितः ।।

काश्यप परिवर्त में भगवान बुद्ध ने स्पष्ट रूप से नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त मध्यमाप्रतिपत् का लोकोत्तर रूप ही प्रस्तुत किया है वे कहते है कि ? सत् मानते है इसके विपरीत बौद्ध या ह्यूम की दृष्टि है जो असत्प्रतिपक्ष का प्रतिपादन करते है जो द्रव्य सामान्य या तादात्म्य (एकरूपता) का निषेद करते है जैन और हेगल समन्वय पक्ष का प्रतिपादन करते है और ग्रीक दार्शनिक पाइरो अथवा भारतीय दार्शनिक संजय चौथी दृष्टि का प्रतिपादन करते है।

शून्यताविधि द्वन्द्वन्याय को जिसे उपर्युक्त चार पदों में व्यक्त किया जाता है, नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की पदावली में प्रसंगापादनम् कहा जाता है यहाँ वादी किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना कोई भी पक्ष नहीं प्रस्तुत करता।

वह अपने प्रतिपक्षी के सिद्धान्त को अक्षरसः स्वीकार कर लेता है और उसमें निहित आत्मविरोध की समीक्षा कर उसके सिद्धान्त का खण्डन करता है और प्रतिवादी को हास्यास्पद स्थिति पर ला खड़ा करता है इस प्रकार माध्यमिक एक प्रासंगिक या वैतण्डिक (वितण्डावादी)के रूप में प्रस्तुत करता है।

पाश्चात्य दर्शन की भाषा में प्रसंग की तुलना हम काण्ट के अयांगोजिक युक्ति से नहीं कर सकते जहाँ वह प्रतिपाक्षी के सिद्धान्त का खण्डन कर परोक्षरूप से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । यहाँ प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन मात्र लक्ष्य है न कि अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ।

काण्ट के दर्शन का बुद्धि के विप्रतिषेध तथा सांख्य दर्शन में असत्कार्यवाद का खण्डन कर परोक्षरूप से सत्कार्यवाद की स्थापना और सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिकों द्वारा नित्यता का खण्डन कर क्षणिकवाद की परोक्षरूप से स्थापना भारतीय दर्शन में अयॉगोजिक युक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

किन्तु इन युक्तियों द्वारा भी किसी सिद्धान्त की निश्चित रूप से स्थापना नहीं की जा सकती है क्योंकि हो सकता है कि वादी और प्रतिवादी दोनो के सिद्धान्त गलत हो इन युक्तियों की उपयोगिता तो मात्र गणित जैसे शास्त्रों में ही है जहाँ मात्र दो ही विकल्प है और एक के गलत सिद्ध होने पर दूसरा विकल्प स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

किन्तु इस प्रकार के तर्क अनुभवमूलक जगत् और विशेषकर इन्द्रियातीत जगत् के सम्बन्ध में निश्चित रूप से असफल सिद्ध होते है पुनश्च किसी वाद के खण्डन से अनिवार्यतः उसके प्रतिवाद की सत्यता नहीं सिद्ध हो जाती उदाहरण के लिए कोई वस्तु स्वतः उत्पन्न नहीं है, यह न सिद्ध होने से यह नहीं सिद्ध होता कि वह निश्चित रूप से परतः उत्पन्न हैं।

अतः प्रसंगविधि पूर्णरूपेण अत्यन्त निषेधविधि (प्रसज्यप्रतिषेध) हैं। अतः इस विधि से मात्रवादी को ही लाभ होता है क्योंकि वह अपने द्वारा स्वीकृत तर्क

नागार्जुन का प्रसंग (द्वन्द्वन्याय) एक आध्यात्मिक युद्धालु है जिसका कोई अपना पक्ष नहीं और इसलिए उसे सिद्ध करने के लिए न तो किसी न्याय वाक्य की संरचना की अवश्यकता है और न कोई युक्ति और उदाहरण देने की ।

हे काश्यप ! आत्मा है (धर्म है) यह दृष्टि एक प्रकार का अतिवाद है आत्मा नहीं है (धर्म नहीं है) यह दूसरे प्रकार का अतिवाद है। जो दृष्टि इन दोनो के बीच की है या इन दोनो अतिवादों का अतिक्रमण करती है वह मध्यमा प्रतिपत् है जो धर्मो के स्वरूप की समीक्षा है वस्तुतः इसके स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अरूप्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठित, अनाभास, अविज्ञप्तिरूप और अनिकेत हैं।[1]

ऊपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध मेंचार ही द्रष्टियॉ बनती है जिनमें प्रथम दो मुख्य दृष्टियॉ है और अन्तिम दो गौड़ दृष्टियॉ है इनमें न तो किसी भावात्मक दृष्टि को अभावात्मक में परिवर्तित किया जा सके और न अभावात्मक को भावात्मक में। कुछ लोग यह कह सकते है कि भावात्मक भी निषेधात्मक हैं।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की एक विशेष शाखा अवश्य थी जहॉ दार्शनिक प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का खण्डन कर न्यायवाक्य उदाहरण और तर्क देकर अपने सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करते थे इस शाखा को स्वतन्त्र माध्यमिक

१– आत्मेति काश्यपः अयम् एकोऽन्तः नैरात्म्यम् इत्ययं द्वितीयोऽन्तः
यद् एतद् अनयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यं अनिदर्शनम् अप्रतिष्ठितम् ।
अनाभासम् अविज्ञप्तिकम् अनिकेतमृडयम् उच्यते काश्यप !
मध्यमा प्रतिपद् धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षा –
रत्नकूट सूत्र काश्यप परिवर्त पृ०सं०८७ –मध्यमक शास्त्र वृत्ति पृ०सं० ३५८

निकाय कहते है और इसके प्रवक्ता भव्य या भाव विवेक थे जिनकी मध्यमशास्त्र की तर्कज्वला नाम की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है किन्तु इस विचारधारा का अधिक प्रचलन नहीं हो पाया।

नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव प्रासंगिक माध्यमिक निकाय के ही पोषक है और अपना कोई पक्ष न रखकर प्रतिपक्षी के सिद्धान्त का प्रसंग द्वारा खण्डन अपना लक्ष्य मानते है और इस विधि द्वारा बुद्धि द्वारा बुद्धि विकल्पजन्य संवृत्ति (जगत्) का खण्डन कर प्रज्ञापारमिताओ, दशभूमियों और प्रातिमोक्ष आदि नियमों का पालन कर परमार्थ में लीन होते हैं।

हम चतुष्कोटि न्याय को दृष्टान्त के रूप में भारतीय दर्शन के कारणता सिद्धान्त पर लागू कर उसे समझाने का प्रयत्न करेगें ।

१, सांख्य यह सिद्धान्त कि भावो की उत्पत्ति स्वतः होती है (स्वतः उत्पाद) अर्थात् वस्तुओं की अपने से होती है गलत है क्योंकि स्वतः उत्पादन निरर्थक है यह पुनरावृत्तिमात्र है।

२, अब यदि बौद्धों और नैयायिकों का यह सिद्धान्त स्वीकार करें कि भावों की उत्पत्ति अपने से भिन्न वस्तु से होती है तो किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकती है जो अनुभव के विरुद्ध है।

३, यदि जैन का यह सिद्धान्त माना जाए कि भावों की उत्पत्ति उभयतः (स्वतः और परतः के युगद् रूप से) होती है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरूद्ध है अतः वे युगपद् हो ही नहीं सकते क्योंकि यह सिद्धान्त स्वीकार करने पर अभाव (अभावमूलक वस्तु बन्ध्यापुत्रादि) से भावमूलक वस्तु मानव, पशु पक्षी, आदि की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो कि असंभव है क्या निर्वाण भाव और अभावरूप हो

सकता है उनका एकत्री भाव वैसे ही असंभव है जैसे सूर्य और अन्धकार का युगपद् अस्तित्त्व ।

४, और यदि चार्वाक् दार्शनिकों (स्वभाववादियों) का सिद्धान्त माना जाए कि भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते है और न परतः अर्थात् वे अकस्मात् उत्पन्न होते है तो इस सिद्धान्त को प्रचलनमात्र (दृष्टिवाद) ही कहा जायेगा। जहाँ वस्तुए अकारण और निराधार उत्पन्न होती है अतः भावों के उत्पाद सम्बन्धी ये चारों सिद्धान्त अपर्याप्त और अग्राहय है ।

इन चारों सिद्धान्तों का खण्डन करते समय हम स्पष्ट रूप से देखेगें कि नागार्जुन किसी सिद्धान्त का खण्डन करते समय किसी अन्य सिद्धान्त की सहायता नहीं लेते। वह बुद्धि की कसौटी पर कसने पर स्वतः खण्डित हो जाता है उदाहरण के लिए सांख्य सिद्धान्त का खण्डन करते समय उसके विरोधी न्याय या बौद्ध सिद्धान्त का सहारा नहीं लिया जाता है उसके पक्ष में अन्तर्विरोध है कोई वस्तु किसी वस्तु को उत्पन्न करें और वह उसी रूप में बनी रहें यह असंभव है यही बात अन्य सिद्धान्तों पर भी लागू होती है।

इन विविध दृष्टियों पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि कोई दृष्टि इसलिए नही मिथ्या है कि इसकी विरोधी दृष्टि सत्य है बल्कि दूसरी, तीसरी, अथवा चौथी दृष्टि से विचार करने से विचारक के मन में समीक्षात्मक बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है और विवेच्य दृष्टि की कमी का अनुभव होता है ।

इस प्रकार विवेच्य सिद्धान्त अन्तर्निहित विरोध से स्वतः खण्डित हो जाता है अन्य दृष्टि के आधार पर नहीं। इस प्रकार जब हम किसी वस्तु या सिद्धान्त के प्रति कोई धारणा बनाते है तो हम उससे इस सीमा तक ग्रस्त हो जाते है

कि उसे ही एकमात्र सही मानते है किन्तु जब अन्य दृष्टियॉ सामने आती है तब हमें पूर्ण विवाच्य दृष्टियों की कमी का अनुभव होता है और हमारे मन में समीक्षा बुद्धि जागती है और अपनी स्वीकृत दृष्टि में कमी की चेतना जागती है।

नागार्जुन के द्वन्द्व न्याय का आधार -

नागार्जुन के अनुसार सभी दृष्टियॉ स्वभावतः खण्डनीय है क्योंकि अनुभव से हमें यह बोध होता है कि प्रत्येक वस्तु में स्वतः विरोध अन्तर्निहित है वस्तुतः कोई भी वस्तु स्वतः सद्‌वस्तु नहीं है उसका कोई अपना स्वभाव नहीं है अन्य वस्तुओं के परिप्रेच्छ में अथवा अन्य वस्तुओं के आधार पर हम उनका ज्ञान करते है इसलिए सभी वस्तुएं प्रतीत्यसमुत्पन्न (निःस्वभाव) है और जो प्रतीत्पसमुत्पन्न सापेक्ष या अन्योन्याक्षित हैं वे विषयिनिष्ठ अथवा असत् हैं।

बुद्धि की वर्गणाएं नानाप्रकार के उपायों के द्वारा तत्व को ग्रहण करने का प्रयत्न करती है किन्तु वे असफल रहती है वे तत्व को ग्रहण नहीं कर सकतीं क्योंकि तत्व बुद्धिगोचर नहीं है बुद्धिविकल्पों की वहॉ तक गति नहीं है अतः वह अपनी वर्गणाओं द्वारा सत्य (तत्व) का जो भी स्वरूप प्रस्तुत करती है वह संवृत्ति मात्र है तत्व नहीं हैं ।

यहॉ हमें नागार्जुन और हेगल के दर्शन में स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई पड़ता है नागार्जुन कहते है कि जो प्रतीत्यसमुत्पन्न या अन्योन्याश्रित है वह संवृत्ति या असत् का दोतक है किन्तु हेगल इसे तत्व का अनिवार्य स्वभाव मानते है उनके अनुसार वस्तुओं का सापेक्ष अस्तित्व द्वन्द्वन्यायात्मक बुद्धि का अनिवार्य स्वभाव है जो विरूद्धों के माध्यम से कार्य करती है उनके अन्तर्निहित विरोध को स्पष्ट करती है तद्‌नन्तर उन्हें एकरूपता प्रदान करती है ।

इस प्रकार हेगल बुद्धि और तत्व को अभिन्न (एकाकार) मानते है इसके विपरीत नागार्जुन अन्योन्याश्रय या सापेक्षत्व को तत्व का स्वरूप नहीं मानते इसलिए जो भी तत्व है वह सापेक्ष या अन्योन्याश्रित नहीं है उनके अनुसार बुद्धि तत्व को अपने विकल्पों और सम्बन्धों के माध्यमसे दूसरे शब्दों में अपनी वर्णगाओं के माध्यम से वास्तविक रूप में नहीं जान सकती है तत्व तो निरपेक्ष निरूपाधि और प्रतीत्य समुत्पन्न है अतः उसे बुद्धि की कोटियों भाव, अभाव, भावाभाव अथवा न भावा भाव किसी भी रूप में नहीं जाना जा सकता है।

आर्यदेव भी तत्त्व के स्वरूप का यही विधान करते है उनके अनुसार जिसने किसी एक भी वस्तु को जान लिया उसने सभी वस्तुओं का स्वरूप जान लिया क्योंकि स्वभावतः सभी वस्तुए शून्य हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले भी नागार्जुन और आर्यदेव के ही निष्कर्ष का अनुमोदन करते है वे कहते है कि जिस निष्कर्ष पर मै पहुंचा हूँ वह यह है कि चिन्तन की सम्बन्धात्मक प्रणाली जो पदों और सम्बंन्धों के माध्यम से किसी तत्व का विवेचन करती है वह मात्र आभास का ज्ञान कराती है सत्त्व (तत्त्व) का नहीं।

नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय के विकास की अवस्थाएं -

१, दृष्टिवाद इस अवस्था में किसी वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त की स्थापना करते है और यह सोचते है कि यह ऐसी ही है किन्तु कुछ ही दिनो बाद हमें इसके सम्बन्ध में अन्य प्रकार के सिद्धान्त मिलते है और पहले से भिन्न होते है और उस वस्तु के स्वरूप का वास्तविक विवेचन करने का दावा करते है।

ऐसी स्थिति में हममें एक संदेह की भावना होती है कि क्या ये परस्पर विरोधी सिद्धान्त वस्तु का वास्तविक स्वरूप बताने में समर्थ है यही समीक्षाबुद्धि या द्वन्द्वन्याय का जन्म होता हैं ।

२, इस अवस्था में हमें इन्द्रियातीत भ्रम अथवा विचार की विषयिनिष्ठता का अनुभव होता है इस अवस्था में द्वन्द्वन्याय बुद्धि की समीक्षा करता है और इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि बुद्धि अपने समस्त विकल्पों का प्रयोग करके भी वस्तु तत्व का स्वरूप नहीं जान सकती यहाँ द्वन्द्वन्याय प्रसंग विधि द्वारा तत्व सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त में निहित विरोध को प्रदर्शित करता हैं।

माध्यमिक द्वन्द्वन्याय हेगल के द्वन्द्वन्याय के बिल्कुल विपरीत है यह विशुद्ध रूप से विश्लेषणात्मक हैं यह समीक्षा शून्यता है जो हमे इस बात का बोध कराती है कि बुद्धिविकल्पों द्वारा तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता तत्त्व के सम्बन्ध में सभी निर्णय, सभी दार्शनिक, सम्प्रदाय, विकल्प, प्रपंञ्च अथावा बौद्धिक संरचना मात्र है वे तत्त्व का स्पर्श नहीं कर सकते ।

किन्तु यह द्वन्द्वन्याय मात्र तर्क के लिए तर्क नहीं है यह वितण्डावाद नहीं है जहाँ वादी का लक्ष्य अपने प्रतिवादी को किसी प्रकार पराजित करना होता है ।

इसका आधार एक परमसत्ता या परमतत्त्व है जिसे जानने या जिसके अनुरूप बनने की कोशिश बुद्धि द्वारा की जाती है किन्तु असफलरूप में।

यदि किसी परमार्थ निर्विकल्प तत्त्व का अस्तित्त्व न हो तो हमें यह भी अनुभूति नहीं होगी कि हमारे विचार व्यक्तिगत या विषयिनिष्ठ हैं तत्त्व तक इनकी पहुँच नहीं है निर्विकल्प तत्त्व निश्चित ही विचार के परे है यह मेज,

कुर्सी, फल, फूल की तरह इन्द्रियगोचर नहीं है फिर भी अज्ञेय नहीं है प्रज्ञा द्वारा इसकी अनुभूति होती है और यह प्रज्ञा चिन्तन के अवसान के साथ समुद्रभूत होती है दृष्टिज्ञान होते ही अद्धयज्ञान प्रज्ञा का उदय होता है और यह प्रज्ञा तत्त्व बोध है जिसका कहीं उत्सृजन नहीं होता यह नित्य और शाश्वत है यह सदैव थी मात्र संवृत ज्ञान से इसे अवरूद्ध कर रखा था।**'तथता सर्वकालं तथाभावात्'**।

नागार्जुन स्पष्टतः कहते है कि वे व्यक्ति बुद्ध की दर्शन को कदापि नहीं समझ सकते जो परम्तत्व 'परमार्थ' और संवृत्ति सत्य का भेद नहीं जानते ।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्ध ने जिन दो सत्यों का प्रतिपादन किया था वे शाश्वत है और एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है वस्तुतः तत्त्व एक ही है जिसे हमारी मूढदृष्टि (अविद्या)और तज्जन्य बुद्धिविकल्पों ने आच्छादित कर रखा है।

और ज्यों–ज्यों हम इस परमार्थ को बुद्धि विकल्पों के माध्यम से जानने का प्रयत्न करते है त्यों–त्यों इसका वास्तविक रूप हमसे ओझल होता जाता है किन्तु विद्या का प्रकाश फैलते ही निर्विकल्प निष्प्रपंच परमार्थ तत्त्व की अनुभूति होने लगती है इसलिए संवृत्ति और परमार्थ का भेदमात्र विषयिगत तत्त्वतः नहीं इसलिए नागार्जुन कहते है कि संवृत्ति और परमार्थ में अथवा संसार और निर्वाण में तनिक भी अन्तर नहीं हैं।

नागार्जुन यह बात भले ही मानते हो कि परमार्थ बुद्धिगम्य नहीं है किन्तु वे इसे अनुभवातीत नहीं मानते, अपितु वोधिगम्य मानते हैं।

बुद्धि विकल्पों की क्षमता का ज्ञान होने पर तथा 'सर्वदृष्टिप्रहाण' होने पर जिस प्रज्ञा 'प्रज्ञापारमिता' का साक्षात्कार होता है वहाँ विषयी और विषय, दृष्टा

और द्रश्य, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का अन्त हो जाता है और सर्वत्र अद्वयतत्व की अनुभूति होती है इसे प्रज्ञा, शून्यता, भूततथता चाहे जिस नाम से पुकारें एक ही तत्व का दर्शन होगा ।

प्रज्ञा को शून्यता इसीलिए कहते है कि यह अवस्था पालने पर उस परमार्थ का साक्षात्कार होता है जो सभी दृष्टियों से शून्य है और यह प्रज्ञा न केवल सैद्धान्तिक चेतना का चरमोत्कर्ष है अपितु साधनजन्य चेतना और धार्मिक चेतना का भी ।

नागार्जुन का कथन है कि मोक्ष या निर्वाण कर्म और क्लेश का अन्त है जो विकल्प और तज्जन्य प्रपंञ्च से उत्पन्न होते है और शून्यता का बोध होते ही विकल्प और प्रंपञ्च का अन्त हो जाता है।

इस प्रकार शून्यता या प्रज्ञा का अद्वय ज्ञान के रूप में हमें समस्त क्लेशों से मुक्त करती है यही हमारी साधना का गन्तव्य है और यही निर्वाण है जो परम स्वतन्त्रता की अवस्था है किन्तु इसकी अनुभूति कठिन तपश्चर्या, पारमिताओं के अभ्यास और दश भूमियों की साधना से संभव होती है और इसके परिणामस्वरूप सभी प्राणी बुद्धकाय में विलीन हो जाते है।

<u>नागार्जुन के अनुसार-</u>

बुद्धानां सत्त्वधातोश्च येनाभिन्नत्वमर्थतः ।

आत्मानश्य परेषां च समता तेन ते मता ।।

नागार्जुन ने न केवल चतुष्कोटि न्याय को चरमोत्कृष्ट रूप में विकसित किया अपितु उसके द्वारा दार्शनिकों के सभी सिद्धान्तों का खण्डन भी किया गया है उनका सम्पूर्ण मध्यमक शास्त्र उनके द्वन्द्वन्याय का प्रयोग है जिसका विस्तृत विवेचन किया गया है ।

अध्याय ३

अद्वैत वेदान्त में तत्त्व का स्वरूप

यद्यपि अद्वैत वेदान्त की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। तथापि सामान्यतया इसकी पहचान आचार्य शकर की दर्शन विचारधारा के रूप मे की जाती है। आचार्य शंकर ने अपनी विलक्षण प्रतिभा और चिन्तन द्वारा दार्शनिक विचारधारा को समृद्ध करने के साथ–साथ उसको जीवन–दर्शन एवं आचरण से जोड करके बहुआयामी बनाया।

उनकी आलोचनात्मक एव सृजनात्मक प्रतिभा चिन्तन के साथ दर्शन के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्व एव शाश्वत मूल्य रखती है। उन्होनें अपने अद्वैत सिद्धान्त के द्वारा भारतीय वाङ्गमय को समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया है।

आचार्य शंकर का जन्म केरल के नम्बूदरी ब्राह्मण कुल में ७८८ ई० में हुआ था। उनका जन्म स्थान कालड़ी नामक ग्राम मे बताया जाता है। ३२ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने न केवल सम्पूर्ण औपनिषदिक विचारधारा को सूत्रबद्ध एव व्यवस्थित किया, बल्कि दार्शनिको के लिए दिशा निर्देशन का भी कार्य किया। यही कारण है कि वेदान्त दर्शन शकराचार्य के दर्शन का पर्यायवाची माना जाता है। उनमें चिन्तन की जो प्रौढ़ता एवं गम्भीरता है। वह प्राच्य तथा पाश्चात्य दार्शनिकों मे दुर्लभ है ।

अतः उन्हें भगवान शंकर का ज्ञान शंक्ति अवतार माना जाता है। आचार्य शंकर गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत् पाद के शिष्य थे।

उनकी दार्शनिक परम्परा और विचारधारा को अद्वैत वेदान्त कहा जाता है।

आचार्य शंकर का जीवन वृत्त अत्यन्त विलक्षण तथा रोचक कहा जाता है कि उन्हें तत्व ज्ञान यथार्थ का सहज ज्ञान जीवन के प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त हो गया था। उनके जन्म के सम्बन्ध मे विद्वानों मे भी भिन्न–भिन्न मतभेद है।

तैलग के अनुसार शंकर ईसा के पश्चात् छठीं शताब्दी मे मध्य अथवा अन्त में हुए। सर आर० जी० भण्डारकर का मत है कि शंकर का जन्म ६८० ई० में हुआ। मैक्समूलर तथा प्रो० मैकडोनल का मत है कि शंकर का जन्म ८७८ ई० का है, और ८२० ई० में उनका देहान्त हो गया। प्रो० कीथ की सम्मति में भी नवीं शताब्दी के प्रथम चरण में शकर का होना माना गया है। आठ वर्ष की अल्पायु मे ही उन्होंने समग्र वेदो को कण्ठाग्र कर लिया।[1] वे प्रज्ञावान तथा असामान्य प्रतिभा के तेजस्वी व्यक्ति थे। जीवन के प्रारम्भ मे ही उन्होंने अपनी नीर–क्षीर विवेक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया।

संसार के क्षणिक प्रलोभन इस बीतराग संन्यासी को अपने स्वर्णिम पाश में नहीं बाँध पाया। ये संन्यासी हो गये, मुमुक्षा की अग्नि इनके अन्तरात्मा में प्रज्वलित हो रही थी, अपने लक्ष्य प्राप्ति के अनन्तर वे अनवरत सत्य के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट होते है। उन्होने चारों कोनों पर मठो की स्थापना की। दक्षिण में श्रृंगेरी में, पूर्व में पुरी में, तथा पश्चिम द्वारिका में, तथा उत्तर में बदरीनाथ में, चारों पीठों की स्थापना की।

१– अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।

षोडशे कृतवान् भावयं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।।

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पृ०सं०८

परम तत्त्व का स्वरूपः-

शंकराचार्य ने अपने परमतत्व को ब्रह्म या आत्मा इन संकेतों के द्वारा निर्दिष्ट किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप पर दो दृष्टियो से विचार किया है।

(१) तटस्थ लक्षण

(२) स्वरूप लक्षण

(१) तटस्थ लक्षण :-

तटस्थ लक्षण की दृष्टि से ब्रह्म मायासोपाधिक एव जगत का कर्त्ता या सृष्टा, पोषक एवं संहारक कहा है। उन्होंने इसकी व्याख्या शारीरिक भाष्य के 'जन्माद्यास्ययतः' सूत्र में की गयी है। व्यावहारिक दृष्टि से वही ब्रह्म जो स्वयं असीम अनन्त और निर्विकार है। वही माया का आधार भी है, वह माया रूप में संसार का उपादान और निमित्तकारण होने से सर्ववयापी और सर्वशक्तिमान रचयिता और स्वामी भी है।

इस प्रकार शंकर का ईश्वर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। सच्चिदानन्द कहलाने वाला ब्रह्म क्रियारूप में कल्पित किया जाता है। तो वह संसार में व्याप्त और संसार से परे होने के कारण हमारे दृष्टिकोण से ईश्वर कहलाता है।

शंकर के अनुसार स्वतन्त्र और अविकारी तत्त्व को ही वास्तविक सत् कहते हैं। परिवर्तनीय प्रकृति वाली वस्तु असत् माननी पड़ती है। इसलिए शंकर छान्दोग्य उपनिषद् के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते कि नामस्वरूपात्मक और सतत् परिवर्तनशील वस्तु केवल कहने भर के

लिए होती है। निरपेक्ष सत् के दृष्टिकोण से वह सबकुछ जिसकी रचना होती है।

जो नाना रूपात्मक और ससीम है। असत् माना जाता है। शकर का विचार ठीक ही प्रतीत होता है। कि व्यावहारिक दृष्टि से रचयितायन भी उसी प्रकार का है। यदि सभी रचना असत् मानी जाती है। तो उसकी रचना अथवा रचयिता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इसलिए शंकर के अनुसार परमसत् अथवा ब्रह्म सर्जक ब्रह्म कदापि नहीं है। वह तो एकरस स्वयं प्रकाश स्वरूप है। जो सदा परिवर्तन रहित है। और उसमें किसी प्रकार की विकार की सम्भावना नहीं है। इस कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से शंकर को छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि का यह मत मानने मे कोई आपत्ति नहीं है कि ससार अथवा उसकी रचना का मूल सत् या ब्रह्म मे नहीं है। बल्कि अब भी जबकि संसार है। इसका आधार या अवलम्ब वही सत् है।

इससे स्पष्ट है कि शंकर का ब्रह्म न तो नितान्त अस्तित्त्वहीन मूल्य है। और विचार का रिक्त आकर्षण मात्र है। शंकर के अनुसार अनस्तित्त्व को किसी भी वस्तु का मूल्य या आधार और अवलम्ब नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शंकर कहते हैं कि ब्रह्म की सत्ता प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपनी आत्मा के निभ्रान्त और निश्चित अनुभव मे सदा जानी जाती है। असीम को ससीम की भाँति समझने या देखने के प्रयत्न मे हम उसे शून्य या रिक्त समझ बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि स्वयं प्रकाश स्वरूप चेतना कभी भी वस्तुरूप में नहीं जानी जाती है।

आचार्य शंकर के पूर्वकालीन अद्वैत वेदान्तियों में आचार्य गौडपाद का विशिष्ट स्थान है। इनकी उज्जवल कीर्तिका ज्वलन्त उदाहरण है उनकी

माण्डूक्य, कारिका। अन्य प्रमुख दार्शनिक आत्रेय, औडुकोमि् कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनी, वादरि पराशर आदि है।

जन्म उत्पत्ति है आदि मे जिनके वे जन्मादि, यह तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास है।[1] उत्पत्ति स्थिति और नाश यह समास का अर्थ है। श्रुति निर्देश से तथा वस्तु स्थिति की अपेक्षा जन्म आदि है। श्रुति निर्देश है, 'मतों वा इमानि०' इस वाक्य में उत्पत्ति, स्थिति और नाश का क्रम दिखाई देता है। वस्तु स्थिति भी होती है। कि जन्म के सत्ता को प्राप्त धर्मो की ही स्थिति और लय का संभव है।

अस्य प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध धर्मी का 'इदम्' शब्द से निर्देश है। और 'अस्य' इसमें षष्ठी विभक्ति जन्म आदि धर्मो का धर्मी (जगत्) के साथ सम्बन्ध द्योतन के लिए है। 'यतः' यह शब्द कारण का निर्देशक है। जो नाम रूप से अभिव्यक्त हुआ है। तथा अनेक कर्त्ता और भोक्ताओं से सयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है।

एवं मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से होते हैं, वह 'ब्रह्म है। यह वाक्य शेष है।[2]

इस नाम रूपात्मक, प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कल्पित जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान उभयात्मक कारण ब्रह्म है।

उत्पत्ति आदि में है। जिसके ऐसे स्थिति और प्रलय जन्मादि कहे जाते हैं।

१– जन्माद्यस्ययतः – ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य अ० १ पृ०सं० ३४

२– अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्त संयुक्तस्यप्रतिनियत देशकालनिमित्त क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्य रचना रूपस्य जन्म स्थिति भंग यत. सर्वज्ञात्सर्वशक्ते कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेष. ।

इसमें **'विवादास्पदं जगत् चेतनकर्तृकं कार्यत्वात् नामरूपात्मक त्वाच्च घटवत्'** जैसे नामरूपात्मक तथा कार्य होने से घट चेतनकर्तृक है, वैसे ही विवाद का विषयभूत यह जगत भी नामरूपात्मक तथा कार्य होने से चेतनकर्तृक हैं, यह अनुमान भी है। इससे साख्य सम्मत जड प्रधान कर्तृत्व तथा बौद्ध सम्मत स्वरूप रहित शून्य कर्तृत्व का निषेध होता है। यह जगत अनेक विध कर्त्ता तथा श्रोक्ताओं तथा भोक्ताओं से युक्त है। यहा कोई केवल कर्ता है और कोई केवल भोक्ता।

'आम्नायस्य' इस पूर्वपक्ष सूत्र से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विधि, निषेध, अर्थवाद मन्त्र और नामधेयात्मक समस्त वेद साक्षात् या परम्परा से यज्ञ आदि कियाओं तथा उनके उपकरण अगो का प्रतिपादक हैं, जैसे–'स्वर्ग कामों यजेत् दघ्न जुहोति' इत्यादि। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' सदैव आदि कियापरक नहीं है। किन्तु सिद्ध वस्तु ब्रह्मपरक है, अत. वे निष्फल हैं, अर्थात् अप्रमाणरूप हैं, ऐसी स्थिति में ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक कैसे हो सकता है।[1]

तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिणमी धर्मो का वर्णन करता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म वह है कि जिससे इस जगत् के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमे स्थित और जीवित रहते हैं और जिसमें पुनः विलीन हो

१– मन्त्रणां च दूषेत्वां इत्यादीनाक्रियातत्साधनाभिधापित्वेन कर्म समवापित्वमुक्तम् न कच्विदपि वेदवाक्यानां विधिसंर्स्पश मन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा । ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पृ०सं० ४८

जाते हैं। ब्रह्म इस जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनो है। शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं। जगत् ब्रह्म की प्रतीतमात्र है, विकार या तात्विक परिवर्तन नही। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है।

अतः उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। माया पर अविद्या के कारण ब्रह्म जीव और जगत के रूप मे प्रतीत होता है। अतः जगत्कारणता सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति, और लय के कारण हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी और सबके स्वामी हैं। यह सब कुछ ब्रह्म है, सर्व खलु इदं ब्रह्म।

'असाधारण धर्मो लक्षणं' – अर्थात् किसी वस्तु के असाधारण धर्म ही उसके लक्षण हैं।[1] वेदान्त परिभाषा के अनुसार एक तो वे जो वस्तु की वास्तविक प्रकृति का संकेत करते है तथा दूसरे वे जो वास्तव मे उसकी प्रकृति नहीं बताते बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का सकेत करते हैं पहले वाले स्वरूपलक्षण एवं दूसरे तटस्थ लक्षण।

तटस्थ लक्षणों का सम्बन्ध वस्तु की विशेषता या धर्म से नहीं होता है किन्तु वे अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते हैं। जैसे, गन्ध को पृथ्वी का तटस्थ लक्षण कहा जाता है। क्योकि महाप्रलय के समय इसके अणुओं में गन्ध का अस्तित्व नहीं होता है, किन्तु घटादि निर्मित होने पर गन्ध पृथ्वी के अणुओं को दूसरी वस्तुओं से भिन्न करने में सहायक होती है। उदाहरणार्थ मकान पर बैठा हुआ कौआ उस मकान का सकेत करने मे सहायक हो सकता।

---

१. वेदान्त परिभाषा पर पं० शिवदत्त की अर्थ दीपिका टीका पृ० सं० १५८
शंकर का ब्रह्मवाद पृ० सं० १०३

किन्तु कौआ मकान पर सदा नहीं बैठा रहता है और न वह मकान का अभिन्न लक्षण है। अत कौआ मकान का केवल तटस्थ लक्षण कहलाता है। यह मकान का स्वरूप लक्षण नहीं है क्योंकि वह वास्तविक तत्व का संकेत नहीं करता है। जब हम नीले कमल की बातें करते हैं तो इसमे 'नीला पद' कमल का विशेषण है।

इसी प्रकार शंकर के अनुसार 'सत्य ज्ञान' और अनन्त ब्रह्म के लक्षण बताये है। ये ब्रह्म के विशेषण नहीं है। यदि इन्हे ब्रह्म का विशेषण माना जाये तो, उनका प्राथमिक महत्व लक्षण के रूप मे होगा, विशेषण रूप मे नहीं। इन लक्षणों के आधार पर ब्रह्म का केवल संकेत किया जाता है, वर्णन नहीं। शंकर के अनुसार ब्रह्म के तीनों संकेत लक्षण—अलग नहीं बल्कि एक हैं।

शंकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण एवं निर्विशेष होने के कारण विचार या अनुमान का विषय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अदृष्ट तत्व है। और अनुमान अनिवार्य रूप से व्यक्ति अवलम्बी होने के कारण प्रत्यक्षादि पर निर्भर करता है अर्थात् अनुमान स्वरूपतः सीमित है। इसलिए उसका विषय ब्रह्म नहीं हो सकता।

श्रुति के प्रति वेदान्त और मीमांसा के दृष्टिकोण में भेद है। एक तो मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्म केवल श्रुतिगम्य नहीं है। अनुमान और अनुभव गम्य नहीं हैं। किन्तु वेदान्त का ब्रह्म केवल श्रुतिगम्य नहीं है बल्कि उसे अनुमान के द्वारा परिपुष्ट किया जा सकता है और अनुभव मे उसकी परिणति होती है। ब्रह्म अन्य वस्तुओं की तरह दृष्ट नहीं है, बल्कि अदृष्ट है। यदि ब्रह्म भी दृष्ट होता तो उसका सम्बन्ध इस दृष्ट जगत के कारण के रूप मे मान लिया जाता। अतः ब्रह्म अन्य प्रमाणो का विषय नहीं है।

यदि ईश्वर को सृष्टा माना जाए तब भी कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि प्रश्न उठेगा कि ईश्वर सशरीरी है या अशरीरी। अगर सशरीरी माना जाए तो भी वह अणुओं को एकत्र नहीं कर सकता और अशरीरी माना जाए तो अणुओ का संयोग नहीं कर सकता।

ब्रह्म के विषय में दो ही तरह के शब्द प्रमुख रूप से श्रुति में मिलते हैं। एक तो निषेधार्थक 'नेह नानास्ति किंचन एवं नेति-नेति'[1] इत्यादि। तत्वमसि एव अहं ब्रह्मास्मि ये दोनों महावाक्य किसी विषयवस्तु का वर्णन नहीं करते बल्कि किसी अपरोक्ष अनुभव की ओर संकेत करते है। ब्रह्म विषयी है अतः वह भाषा से परे है। अतः इसमें कोई तार्किक विरोध नहीं है कि ब्रह्म भाषा से परे है और भाषा द्वारा उसका लक्षण (संकेत) भी किया जाता है।

स्वरूप लक्षण :-

सगुण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[2] (ब्रह्म सत् चित् और अनन्त आनन्द) है विज्ञानमानन्द ब्रह्म (ब्रह्म चित् और आनन्द है) आनन्द ब्रह्म (ब्रह्म आनन्द है) । श्रुतियाँ बार–बार ब्रह्म को नित्यसत् शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द बताती है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत् है। वह कूटस्थनित्य और अपरिणामी है। जो सत् है वही चित् है। ब्रह्म शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य है। जो चित् है वही आनन्द है। सत् और चित् दोनों आनन्द के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः आनन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के धर्म या गुण नहीं हैं ये ब्रह्म के आवश्यक और अपृथक गुण भी नहीं हैं।

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री पृ० सं० २८.

२. तैत्तरीय उपनिषद् २–१ शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त दर्शन पृ० सं० २६१

ये तीन नहीं है एक ही हैं। बुद्धि इनको तीन भिन्न गुण मानती है किन्तु तात्विक रूप में ये एक हैं ये ब्रह्म के स्वरूप हैं ब्रह्म और इनमे कोई भेद नहीं है। जो सत् है वही चित् है और जो सच्चित् है वही आनन्द है। वही ब्रह्म है। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विशेष है। अतः अलक्षण है।

इन्द्रिय, बुद्धि, विकल्प, और वाणी द्वारा ग्राह्य न होने से उसे अगोचर या अतीन्द्रिय, निर्विकल्प और अनिर्वचनीय कहा जाता है। समस्त अनुभव का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश आत्म चैतन्य है। ब्रह्म के विषय में आदेश नेति–नेति है।[1]

नेति–नेति से ब्रह्म के गुणों का, विशेषणों का, निर्वचनों का निषेध होता है, स्वयं ब्रह्म का नही। नेति–नेति से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्विशेषता सिद्ध होती है उसकी शून्यता नहीं। नित्य और स्वप्रकाश आत्मा की ज्योति कभी लुप्त नहीं हो सकती। इन्द्रिय संम्वेदन, बुद्धि विकल्प और वाणी के शब्दों द्वारा अग्राह्य निर्विशेष आत्म चैतन्य अपरोक्षानुभूति गम्य है।

सापेक्षबुद्धि, ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी के अर्न्तगत कार्य करती है। और अपनी चार कोटियों के सहारे कार्य करती है। आत्मतत्व इस त्रिपुटी के और बुद्धि कोटियों के ऊपर है। उनका अधिष्ठान है। अत. अद्वैत और निर्विकल्प आत्मा बुद्धि ग्राह्य नहीं हो सकता। सविकल्प बुद्धि विषयी और विषय में, ज्ञाता और ज्ञेय में, प्रमाता और प्रमेय में भेद करके ज्ञान को इन दोनो का सम्बन्ध मानतीं, जीव और जगत दोनों का अधिष्ठान एक है। अतः विशुद्ध नित्य चैतन्य ही शुद्ध ज्ञान, शुद्ध ज्ञाता और शुद्ध ज्ञेय है।

---

१. अथात् आदेशो नेति–नेति–शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त दर्शन पृ०सं० २६१ डा० सी० डी० शर्मा

आत्म चैतन्य में त्रिपुटी प्रपंच नहीं है। सापेक्ष बुद्धि के विकल्प जाल मे निरपेक्ष आत्म तत्व को बॉधा नहीं जा सकता। निषेधात्मक निर्वचन वस्तुत निर्वचन का निषेध है। पुनश्च यह आक्षेप कि बुद्धि तत्व को अज्ञेय रूप से तो ग्रहण करती है अनुचित है क्योंकि तत्व का ज्ञान नहीं है। सत्, चित् और आनन्द को ब्रह्म का विशेषण नहीं मानना चाहिए अर्थात् सत् से असत् की व्यावृत्ति, चित् से जड़त्व की व्यावृत्ति, और आनन्द से सीमित या दुख की व्यावृत्ति होती है। ब्रह्म में सब प्रकार के भेदो का अभाव है। अत विशेष्य–विशेषण की कल्पना नहीं की जा सकती। पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर को द्रव्य कहकर उसके गुणों की व्याख्या की है, किन्तु प्रायः ये सभी परिभाषाये असफल होती हैं।[1]

ब्रह्म के विषय में अनेक निषेध हो सकते हैं। जैसे अदृष्टम्, अब्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्ष्यम्, अचिन्त्यम् अद्वैतम् आदि किन्तु इन निषेधात्मक वाक्यों से ब्रह्म के अपरोक्ष स्वरूप का संकेत नहीं मिलता है। किन्तु सत् चित् आदि पद ब्रह्म के अपरोक्षत्व की ओर संकेत करके उसके स्वरूप को बताते है। इन्हीं से केवल इन्हीं को स्वरूप लक्षण कहा गया है। और से तीनों उस एक ही तत्व के विषय में निषेध करते हैं।

अतः तीनों समानार्थी न होते हुए भी तीनों का संकेत एक ही तत्व की ओर है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण पर विचार करते समय यह स्पष्ट प्रतीत होता है। वह यह है कि यदि ब्रह्म सर्वथा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष है तो माध्यमिकों के शून्य से किस प्रकार भिन्न है।

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री । पृ० स० २७, २८ रमाकान्त त्रिपाठी.

एक तरफ लोगों ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध (शून्य वादी) कहा है। तथा दूसरी ओर लोगो ने नागार्जुन के शून्यवाद को शंकराचार्य के ब्रह्मवाद का रूप देते हैं। अतः शंकराचार्य एवं नागार्जुन में भेद और समानता दोनो है। दोनों जगत को मिथ्या मानते हैं। दोनों तत्व को मन और वाणी के परे मानते हैं। और दोनों ही निषेध या खण्डन विधि पर बल देते हैं। जिस प्रकार शकर ब्रह्म को जगत् का कारण और अधिष्ठान है वैसा नागार्जुन कहीं भी स्पष्टतया नहीं कहते। यदि शून्यवादी निरधिष्ठान भ्रम मानते हैं तो उनके विरूद्ध शकराचार्य की आपत्तियाँ ठीक ही है। यदि भ्रम निरधिष्ठान नहीं है तो वेदान्त के विरूद्ध माध्यमिकों की आपत्तियाँ अनुचित है क्योंकि तब माध्यमिको एवं वेदान्त एक हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त द्वितीय भेद यह है कि जहॉ पर ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है वहॉ शून्य के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा है। तीसरा अन्तर यह है कि वेदान्त में ब्रह्म और आत्मा का अभेद माना जाता है जबकि शून्यवाद में इस प्रकार की कोई बात नहीं मिलती।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म जड़ स्थूल जगत का कारण कैसे हो सकता है। सृष्टि के विषय में या सृष्टि के क्रम के विषय में श्रुति में परस्पर विरोधी वाक्य मिलते है। कही तो यह कहा जाता है कि सृष्टि का कारण आत्मा है, अथवा सृष्टि का कारण असत् है। और कहीं कहा गया है कि यह उत्पत्ति सत् से हुई है।[1] और कहीं सृष्टि को अनायास उत्पन्न माना गया है।

श्रुति का मुख्य विषय सृष्टि विषयक वर्णन नहीं है। बल्कि समस्त सृष्टि में व्याप्त एक तत्त्व का प्रतिपादन करना है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री । पृ० सं० ३० रमाकान्त त्रिपाठी.

कारण समान होने चाहिए किन्तु ब्रह्म और जगत् सर्वथा भिन्न है। चैतन्य ब्रह्म से जड जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता, अर्थात् ब्रह्म से जगत की वास्तविक उत्पत्ति नहीं है बल्कि जगत ब्रह्म का विवर्त है या अविद्याजन्य आभास है। ब्रह्मसूत्र में शंकराचार्य ने कहा है कि गोबर आदि जड वस्तु से भी कीडो की उत्पत्ति देखी जाती है और चैतन्य से जड आदि की भी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे मनुष्य के नख, बाल आदि की उत्पत्ति ।

अत. कार्य--कारक को सर्वथा समान नहीं समझा जा सकता सर्वथा समान मानने पर तो उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। ब्रह्म और जगत में समानता यह है कि दोनों में अस्तित्व और प्रकाश है।

अस्ति भांति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यं दयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोऽन्तरम्।।

ब्रह्म और जगत् मे अन्तर यह है कि ब्रह्म आनन्द रूप है और जगत दुःख रूप। यदि सृष्टि के पहले यह जगत असत् था तो वेदान्ती को असत् कार्यवादी होना पड़ेगा। यह आपत्ति भी ठीक नहीं है क्योकि कार्यरूप जगत् सृष्टि के पहले कारणरूप ब्रह्म में स्थित रहता है। इतना ही नहीं ब्रह्म मे समाविष्ट हो जाने के उपरान्त पुनः सृष्टि का कोई कारण नहीं दीखता। और मुक्त पुरूषों के पुनर्जन्म का भी प्रश्न पुन सृष्टि के समय उठ जाता है। (ब्रह्मसूत्र २/१/४ से २/१/१०)

जगत के ब्रह्म में समाविष्ट होने से जगत् के दोष ब्रह्म में इसलिए नहीं प्रवेश कर सकते, कि जगत् के गुणों का विलयन होने के उपरान्त ही उसका ब्रह्म में विलय होता है। यह स्मरणीय है कि कार्य कारण के समान होता है न कि कारण कार्य के समान परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि

जगत् के दोष यदि ब्रह्म में न होते तो वे कार्यरूप जगत् में कैसे आते, क्योंकि जगत् तो वास्तव में मिथ्या है। पुनः सृष्टिविषयक आपत्ति भी ठीक नहीं है। क्योकि गाढी–निद्रा में किसी प्रकार की अनेकता न दिखाई पडने पर जागने पर अनेकता दिखाई पडती है। उसी प्रकार प्रलय के बाद भी सृष्टि होती है। क्योंकि उस समय भी सर्वबीजरूपा अविद्या रहती है। मुक्त पुरूषों की अविद्या का नाश हो जाता है अतः पुनर्जन्म सम्भव नहीं है।

शास्त्रपोनित्वात् की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म वह है जो शास्त्र की योनि का कारण है। प्रथम तो यह कि ब्रहम सर्वज्ञ है "य सर्वज्ञ सर्ववित्" तथा दूसरा शास्त्र का एकमात्र कारण ब्रह्म ही हो सकता है। यह बात शास्त्र (वेद) और तर्क दोनों से सिद्ध की जा सकती है। वृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित्मेतत् यत् ऋग्वेदः"। यहाँ पर श्रुति स्वयं कहती है कि ब्रह्म ही वेद का कारण है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि वेद मानवकृत हैं।

मीमांसको का मत है कि जगत् और वेद अनादि है, वेदान्त को मान्य हैं, क्योंकि वेदान्त जगत की सृष्टि और प्रलय मानता है। वेद का विषय अदृष्टवस्तु है – जैसे पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता, एवं ब्रह्म।[1]

यदि ये विषय किसी अन्य प्रमाण से ज्ञेय होते तो वेद की निरर्थकता हो जाती, क्योंकि प्रत्येक युग में मनुष्य इनको अपने साधनों से ही जान लेता। श्रुति की परिभाषा यह है कि श्रुति वह है जिसके द्वारा अन्य प्रमाणों से जो गम्य नहीं है उसका ज्ञान प्राप्त हो। ब्रह्म के विषय में तो यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म सर्वथा लोकोत्तर है।

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री । पृ० सं० ३० रमाकान्त त्रिपाठी.

ब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरू की आवश्यकता है।

परन्तु प्रश्न उठता है कि गुरू कौन हैं? अतः तर्कतः ऐसे गुरू की आवश्यकता सिद्ध होती है जिसका कोई गुरू न हो अर्थात् जो नित्य, मुक्त और

सर्वज्ञ हो। इसे ही ईश्वर कहा जा सकता है। इसी से वेदों की उत्पत्ति है। इस तरह से आदि गुरू के रूप मे और वेद–रचियता के रूप में ब्रह्म (ईश्वर) की अनिवार्यता सिद्ध होती है।[1]

ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र द्वारा और शास्त्र (वेद) स्वय ब्रह्म द्वारा माने जाने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म या ईश्वर यदि स्वयं अपने को प्रकट न करे या अपना ज्ञान न दें। तो किसी भी प्रकार उसका ज्ञान हो नहीं सकता। ब्रह्म प्रकाश या चैतन्य स्वरूप है। किन्तु प्रमा या ज्ञान स्वरूप (वृत्ति–ज्ञान) नहीं ! यदि ब्रह्म ज्ञान स्वरूप होता तो अविद्या क्षणमात्र भी नहीं टिक सकती अविद्या का नाश हो जाता है परन्तु अविद्या का विरोध प्रकाश या चैतन्य से नहीं, बल्कि विद्या या प्रमाणजन्य ज्ञान से है।

अतः ब्रह्म में अविद्या होते हुए भी उसका नाश तभी होता है। जब प्रकाश जन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। ईश्वर में वही ज्ञान है। जो अविद्यानाशक होता है। इसी से ईश्वर सर्वज्ञ है। अर्थात् वह अपने को ब्रह्म के रूप में जानता है। ईश्वर सत्य (वेदवाक्य) को उत्पन्न करता है। ईश्वर सत्य उत्पन्न नहीं करता है। सत्य–ज्ञान को उत्पन्न करता है। सत्य तो नित्य है। इस दृष्टि से सत्य ईश्वर से परे है। क्योंकि ईश्वर अपने को ब्रह्म रूप में जानकर ही सत्य का

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री । पृ० सं० ३३ रमाकान्त त्रिपाठी.

ज्ञाता होता है।

लेकिन ईश्वर ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है। क्योंकि वह अपने को स्वयं ब्रह्म के रूप में जानता है। अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर और ब्रह्म भिन्न होते हुए भी तत्व की दृष्टि से दोनो एक ही हैं। उनको उच्चतर और निम्नतर कहना उचित नहीं होगा।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म वह है जो शास्त्र के द्वारा जाना जाए। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे सूत्र (जन्माद्यस्यः यत.) में यह स्पष्ट नहीं है कि जगत के कारण रूप में ब्रह्म शास्त्र के द्वारा ज्ञातव्य है। इस आशय की पुष्टि शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य के तृतीय सूत्र की व्याख्या में किया है।[1]

आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध

परम सत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मगत विधि का सबसे बडा औचित्य यह है कि इसके द्वारा सत् का अपरोक्ष साक्षात्कार हो सकता है, किन्तु सह साक्षात्कार तभी सम्भव है जब आत्मा और परमसत् में कोई तात्विक भेद न हो। यदि आत्मा वस्तुतः ससीम होती जैसी कि सामान्यत. प्रतीत होती है तो कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा मे ही अनन्त आत्मा का साक्षात्कार कभी न कर सकता। ससीम कभी भी अपने में असीमता का अनुभव करने में असमर्थ है ।

अतः उपनिषदों के ऋषियों का अनुसरण करते हुए शंकर ने असंदिग्ध रूप से कहा है कि ब्रह्म साक्षात्कार अपनी वास्तविक आत्मा के साक्षात्कार में ही हो सकता है। इसका निहितार्थ यह है कि हमारा सत् मूलरूप मे ब्रह्म के

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुःसूत्री (सत्यानन्दी दीपिका)। पृ० सं० ३३

अतिरिक्त कुछ नहीं है। परमसत् की आत्मगत विधि से खोज करने के लिए आत्मा और ब्रह्म का मूलरूप मे तादात्म्य स्वीकार करना पहले भी उतना ही आवश्यक है जितना कि इस विधि का प्रयोग करने के बाद उसका साक्षात्कार कर लेने पर ।

उपनिषदों के ऋषि और शंकर ब्रह्मज्ञान की खोज मे इसी दृढ धारणा के साथ प्रविष्ट होते हैं कि समग्र के मूल में केवल एक परमसत् है और आत्मगत विधि से अग्रसर होते हुए अपने अर्न्तमन में उस आत्मा के रूप में पाते हैं। शंकर ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन बडी दृढता और स्पष्टता के साथ बार–बार किया है।[1]

पाल डायसन ने भी स्वीकार किया है कि यही शंकर के ब्रह्मवाद का मूलभूत सिद्धान्त है। आत्मा और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार ही मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है इसे प्राप्त कर मनुष्य नश्वर संसार के सभी दोषों से मुक्त हो जाता है।

शंकर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार व्यर्थ या त्रुटिपूर्ण कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इससे एक तो अज्ञान समाप्त हो जाता है और दूसरे किसी अन्य ज्ञान के द्वारा इसका बाध नहीं होता है।[2]

महाकाव्य तत्वमसि का संकेत यह है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता या बुद्धि–विकल्प पर किसी विशेष मानसिक स्थिति पर आधारित नहीं है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में चोर के दृष्टान्त में बताया गया है कि

---

१. अपरोक्षानुभूति २४ (ब्रह्मैवाहम्) ४०, ५२, ५५ .

२. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र २, १, १४.

मिथ्याभिनिवेश वाला व्यक्ति बन्धन में पडता है, और सत्याभिसंध को मुक्त कर दिया जाता हैं। परमसत् की एकता ही सत्य है। नानात्व की उत्पत्ति अज्ञान से होती है।

ब्रह्म के साथ सबसे तादात्म्य के सिद्धान्त का विरोध इस आधारपर भी नहीं किया जा सकता कि शास्त्रों मे वर्णित विधि–निषेध की सार्थकता जो भेद पर ही अवलम्बित है, भेद मिथ्या होने पर व्यर्थ हो जायेगी। शंकर ने दृश्यजगत का अस्तित्व तब तक सत्य माना है।

जब तक ब्रह्म का ज्ञान सर्वात्मा के रूप में नहीं हो जाता है। इसी आधार पर गुरू पर गुरू–शिष्य का भेद शंकर को मान्य है।[१] कभी–कभी आत्मा और ब्रह्म की एकता के विरोध में दोनों के तात्विक भेद का प्रश्न उठता है, कि एक ससीम, सविकार और जन्मान्तर ग्रहण करने वाला है। जबकि दूसरा असीम, निर्विकार, और जन्मान्तर से मुक्त है।

ब्रह्मसूत्र ४,१,३ पर भाष्य लिखते हुए शकर ने स्वयं इस प्रकार प्रश्न उठाया है और उसके उत्तर में कहते हैं कि शास्त्रों में जो तादात्म्य बताया गया है उसे उसी भाव से समझना चाहिए, जिस भाव से विष्णु आदि का तादात्म्य उनकी मूर्ति से किया जाता है। **प्रतिमादिष्विव विष्ठवादि दर्शनम्**

शंकराचार्य की मान्यताओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा की वास्तविक या तत्वमीमांसीय प्रकृति ब्रह्म से तादात्म्य रखती है, उसका इन्द्रियानुभविक रूप नहीं है। इसके अतिरिक्त शंकर इस तादात्म्य को केवल कल्पना नहीं, बल्कि अनेक लोगों की अब्यवहित, अनुभूति का असंदिग्ध तथ्य मानते हैं।

१. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र २, १, ४.

जो लोग अपने को ससीम व्यक्ति और भौतिक शरीर में आबद्ध समझते हैं, ब्रह्म या निरपेक्ष सत् से अपना तादात्म्य अनुभव नहीं करते हैं, उन्हें निःसंदेह यह तादात्म्य अद्वैतवादियों के मन की काल्पनिक रचना प्रतीत होगा, किन्तु जिन लोगों को इसकी अनुभूति प्राप्त है, उनके लिए ज्ञान नितान्त असंदिग्ध और परम सत्य है, उन्हें अपनी परिमित प्रकृति अयथार्थ प्रतीति मात्र लगती है। प्रश्न उठता है कि अब किस पर विश्वास किया जाए, उसका जो केवल अपनी सीमा का अनुभव करता है या इसका जिसने अपनी सीमा के भूमा का भी अनुभव किया हैं।

हमें यही निर्णय निष्पक्ष और सत्य प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार के लोग इस तादात्म्य के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। वे केवल इतना ही कहते हैं कि उसके बारे मे उन्हे कुछ ज्ञान नहीं है। दूसरी ओर हम अद्वैतभाव का अनुभव रखने वाले लोगों के वचनो का संदेहास्पद कहकर न्याय नहीं करेंगे।

क्योंकि वे लोग बहुत विचारवान और विश्वसनीय हैं। उनके लिए ऐसा कोई कारण नहीं समझ में आता कि वे अपने को या किसी अन्य को भ्रम में डालें। इसके अतिरिक्त यदि हम सत्यनिष्ठा के साथ अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर गहराई से विचार करें, तो वह संसार की सब वस्तुओं से भिन्न यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से परे चिदात्मक अनुभव होगा, और तब आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता के सिद्धान्त की सत्यता सम्भव प्रतीत होने लगेगी।

शंकराचार्य के अनुसार चेतना अपने आप में आकाश की भांति न कोई विभाजन या भेद स्वीकार करती है, और न कर सकती है। इस दृष्टि से स्पिनोजा का द्रव्य कई सन्दर्भों में शंकर के ब्रह्म के समान है।

जिस प्रकार ब्रह्म अनुभव मे आने वाली सब यथार्थ और सम्भावित वस्तुओं का आधार और आश्रय है तथा स्वयं अस्तित्वान और अपरिवर्तनीय है, वैसे ही स्पिनोजा का द्रव्य समस्त संसार का कारण और स्वयं कारण रहित है, वह ब्रह्म की तरह एकमात्र सत् है जिसकी अनुभूति उसी में उसी के द्वारा होती है।[1] इसका सम्प्रत्यय अन्य वस्तु के सम्प्रत्यय पर आधारित नहीं है, जिससे उसकी रचना होती हो। यह सभी परिवर्तनों, भेदों एवं विसंगतियों से पूर्णतः मुक्त है। इसका न तो कभी ह्रास होता है और न कभी विकास होता है। यह सभी परिवर्तनों और भेदों के मध्य निर्विकार बना रहता है।[2]

इसके बिना किसी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है किन्तु इसकी वास्तविक प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता है, स्पिनोजा ने कहीं–कहीं इस द्रव्य को ईश्वर भी कहा है। उसके अनुसार जो कुछ है ईश्वर में है, उसके बिना न किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता है और न कल्पना की जा सकती है।

जड पदार्थ और आत्मा ईश्वर से बाहर नहीं हैं कोई विशेष वस्तु या सम्पूर्ण दृश्य जगत भी ईश्वर से पृथक अस्तित्व नहीं रखते हैं, अस्तित्व के भौतिक और मनस् दोनों पक्ष ईश्वर या द्रव्य से ही प्रकट होते हैं, जैसे ईश्वर से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है वैसे ही ईश्वर के अन्दर भी कोई भेद या विरोध नहीं हो सकता है।

---

१. स्पिनोजा एथिक्स पृ० सं० १

२. हॉफडिंग ए हिस्ट्री आंफ मार्डन फिलासफी, भाग १ पृ० सं० ३१२.

जैसे शंकर ब्रह्म के अस्तित्व में पूर्णतः आश्वस्त हैं, वैसे ही स्पिनोजा को भी द्रव्य के विषय मे कोई संदेह नहीं है। इसका अस्तित्व सामने है तथा इसका अस्तित्व आवश्यक भी है, क्योकि इससे कोई भिन्न नहीं है। एक अनन्त, अविभाज्य, कालातीत, अनादि और अनन्त, सत् स्वरूप उसकी द्रव्य की अवधारणा हमें शंकर के ब्रह्म की तद्वत् अवधारणा का स्मरण दिलाती है। जैसे शंकर ने माना है कि वास्तविक सत् या अस्तित्व ब्रह्म ही है और जो कुछ अस्तित्व प्रतीत होता है, वह ब्रह्म का ही है, वैसे ही स्पिनोजा का मत है कि सभी अस्तित्व द्रव्य का है और "अस्तित्व द्रव्य की प्रकृति का है"।[1]

स्पिनोजा का द्रव्य या ईश्वर तो सब वस्तुओं में व्याप्त उनका कारण है।[2] जगतातीत कारण नहीं है किन्तु शंकर के ब्रह्म में वस्तुतः कारण भाव है ही नहीं, जैसे संसार की उत्पत्ति आदि का कारण होना ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप मे ब्रह्म सब कोटियों से परे है स्पिनोजा के दर्शन में जिस द्रव्य कोटि की बडी महत्ता है इसमें उसे स्थान प्राप्त नहीं है, स्पिनोजा के विपरीत शंकर के ब्रह्म में कोई गुण नहीं है। वस्तुतः मनस् और पुद्गल दो ज्ञात गुणों वाले द्रव्य रूप में परम् सत् की अवधारणा बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है। यद्यपि इस सिद्धान्त में पक्ष में भी कुछ नहीं कहा जा सकता है।

प्रो० टी० आर० बी० मूर्ति के अनुसार "द्रव्य की यह अवधारणा अविश्वसनीय हैं। सहसा जुटाये गये गुण स्वयं स्वतंत्र द्रव्य रूप हैं"। यह सत्य है कि स्पिनोजा के गुण इसके द्रव्य से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते किन्तु यह

१. स्पिनोजा एथिक्स पृ० सं० ४.

२. स्पिनोजा एथिक्स पृ० सं० १८.

तो मानना ही पडेगा कि वे द्रव्य से या तो भिन्न है या अभिन्न।[1] यदि उन्हें अलग माना जाता है तो सत् को केवल एक कैसे कहा जा सकता है और यदि वे अलग नही हैं तो उन्हे द्रव्य का गुण नहीं माना जा सकता है, कुछ भी हो शंकर के ब्रह्म और स्पिनोजा के द्रव्य का मौलिक भेद है।

स्पिनोजा के द्रव्य की भाति शैलिंग के निरपेक्ष और शंकर के ब्रह्म मे भी अन्तर है। शंकर के ब्रह्म के विपरीत शैलिंग का निरपेक्ष अपरिवर्तनीय और स्थिर नहीं है, बल्कि गत्यात्मक, रचयिता और विकास का प्रेरक है, वह अचेतन से चेतन होता है। और चेतन से स्वचेतन उसका एक इतिहास भी है किन्तु ब्रह्म का इतिहास नहीं है।

प्रो० थिली के शब्दों में "अपने विकसित रूप में शैलिंग का दर्शन सर्वेश्वरवाद का एक रूप है जिससे विश्व एक जीवित और विकासवान सत्ता है, विश्व का प्रत्येक अंग अपना महत्व रखता है और सम्पूर्ण अवयव संस्थान का सहायक रहता है इस अर्थ में विषय और विषयी आकार और पुद्गल, प्रत्यय और वस्तु सब एक और अविभाज्य है। एक अनेक मे है और अनेक एक में।

इस प्रकार शैलिंग का निरपेक्ष जो एक अवयव संस्थान के समान है अपने अंगों से विलग नहीं रह सकता है। शंकर का ब्रह्म अपने वास्तविक रूप में जगतागीत है और परिवर्तित होने वाले तथा ससीम प्रकृति से भिन्न है।

आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषद के ऋषियों की दर्शन को महान देन है, विषयी और विषय प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्व प्रकाशित हो रहा है, जो दोनों में अन्तर्यामी है और दोनों के पारगामी भी हैं।

---

१. थिली ए हिस्ट्री आंफ फिलासफी, भाग १ पृ० सं० ४५१.

आत्म तत्व स्वत. सिद्ध और स्वप्रकाश है। सभी मनुष्यों को अपनी आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। 'मै हूँ' यह ज्ञान आलोचना या संशय का विषय नहीं है और न ही आत्मा का निषेध किया जा सकता है, क्योकि निषेध कर्ता स्वयं आत्मा ही है, किन्तु हमारा व्यक्तिनिष्ठ जीवात्मा शुद्ध आत्मतत्व नहीं है।

यह सत् और असत् का मिथुनीकरण है, चेतन और जड की ग्रन्थि है। जीव अविद्या जन्य है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, अन्तःकरण ये सब अविद्या के कार्य हैं और भौतिक है, और ये सब जीवात्मा को घेरे रहते है तथा उसे परिछिन्न या सीमित या व्यक्तिनिष्ठ जीव बनाते है किन्तु इससे शुद्ध चैतन्य ही प्रकाशित हो रहा है। वस्तुत. जीव का स्वरूप शुद्ध आत्म चैतन्य ही है। यह साक्षी है, यही ब्रह्म है।[1]

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा जगत के सारे पदार्थो में व्याप्त रहता है।[2] सारे पदार्थों को अपने में ग्रहण कर लेता है।

माण्डूक्य उपनिषद में आत्मा को तुरीय या शुद्ध चैतन्य बताया गया है तथा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति उसकी अभिव्यक्ति की व्यावहारिक अवस्थायें हैं। आत्मा जाग्रत अवस्था में जगत के बाहय पदार्थो का अनुभव करता है, स्वप्न में मानस पदार्थो का अनुभव करता है सुषुप्ति में वाह्य या आभ्यन्तर किसी प्रकार के पदार्थ या विषय न होने से विक्षेप के अभाव मे कोई अनुभव नहीं होता यह अज्ञान की अवस्था है। आत्मा तुरीय या शुद्ध चैतन्य है।

समस्त प्रपंञ्च का अधिष्ठान होते हुए भी यह प्रपंञ्चोपशम् शान्त, शिव, अद्वैत तत्व है। प्रणव या ओंकार इसका प्रतीक है।

---

१. तरतिशोकमात्मवित् वेद और उपनिषद – डा० सी० डी० शर्मा पृ० सं० ६

२. मुण्डक १–१–४–५.

आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषद् के ऋषियो की दर्शन की महान देन है। जीवात्मा में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्मरूप सें इस समस्त विराट् बाह्य जगत में भी व्याप्त है। जो व्यष्टि का आत्मा है वही समष्टि का आत्मा है; जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में हैं।

जीवात्मा के स्वतः अनुभव सिद्ध होने से उसकी सत्ता असंदिग्ध है, आत्मा और ब्रह्म दो न होकर अखण्ड चैतन्य रूप में एक ही तत्व है। ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान में पारमार्थिक रूप में कोई भेद नहीं है। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र वेदान्त प्रतिपाद्ध तत्व हैं। यही अविद्या या माया का अधिष्ठान है। यही उसका आश्रय और विषय है, प्रपंञ्च इसी पर अध्यस्त हो कर भासता हैं। समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान होने से यह आत्मा स्वयं सिद्ध और स्वप्रकाश है। यह **निर्विशेष–चित और अखण्ड आनन्द हैं। इसका निराकरण सम्भव नहीं है। बुद्धि** के सारे विकल्प, मण्डन–खण्डन, स्वीकरण–निराकरण, विधि–निषेध आदि इस आत्मतत्व पर निर्भर है।

शकराचार्य के अनुसार आत्मा के बिना सभी वस्तुए अग्रहीत हैं। अतएव आत्मा ही सबकुछ हैं। **आत्म व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्।**[1]

यह शंकराचार्य का बहुत प्रिय वाक्य है; अर्थात् आत्मा के बिना प्रत्येक विषय का अभाव है इस कारण प्रत्येक विषय आत्मा से अन्वित है क्योंकि उसका ज्ञात होना और आत्मा से अन्वित होना एकार्थक हैं। सुरेश्वर के अनुसार अनात्मा सर्वत्र आत्मपूर्वक हैं।

---

१. ब्रहदारण्यकोनिषद भाष्य २/४/६. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण प्रो० संगम लाल पाण्डेय पृ० सं० ३५४, ३५५.

यदि सभी विषय आत्मपूर्वक है तो आत्मा ही एकमात्र सत् है। अत आत्मा ब्रह्म है।

<u>गौड़पाद के अनुसार</u> यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है तो अन्य सब कुछ मिथ्या है, नानात्व मिथ्या है। इस प्रकार ब्रह्मवाद से मायावाद तर्कतः सिद्ध होता है। इसी को उलटकर कह सकते है कि मायावाद से ब्रह्मवाद सिद्ध होता है।

<u>प्राचीन वेदान्त प्रपंञ्चविलयवाद</u> को मानता हैं। प्रपंञ्च विलयवाद के अनुसार समस्त प्रपंञ्च का विलय ब्रह्म या आत्मा में हो जाता है। प्रपंञ्च का विलय उस साधक को प्राप्त होता है।[1] जो **अह्म ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूँ,** का अनुभव करता है। इस तरह प्रपञ्च विलयवाद आत्मा को ब्रह्म सिद्ध करता है।

<u>चित्सुख के अनुसार</u> आत्मा को स्वप्रकाशता से आत्मा को ब्रह्म सिद्ध किया है; स्वप्रकाश का अर्थ अपरोक्ष और अवेद्य है। उसको परोक्ष तथा अर्थात् विषय नहीं सिद्ध किया जा सकता, वह दृष्टा भी नहीं है। वह संवित या दृष्टि है। अतः वह ज्ञाता–ज्ञेय, विषयी–विषय के द्वन्द्व से मुक्त या निरपेक्ष है। अत. वह ब्रह्म है। उसकी स्वयं प्रकाशता उसके चिद्रूयत्व से सिद्ध है।

<u>न्याय के अनुसार</u> आत्मा स्वभावत अचेतन है। सांख्य ने आत्मा को सत्+चित् माना है सांख्य का आत्मा का स्वरूप चैतन्य है जिसमें सत्ता भी निहित है। शंकर ने आत्मा का स्वरूप सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) मानकर आत्मा सम्बन्धी विचार में पूर्णता ला दी है।

शंकर ने आत्मा को नित्य और निराकार माना है आत्मा एक है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शनों में आत्मा को अनेक माना गया है।

---

१. ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड ५१.

परन्तु शंकर आत्मा को एक ही मानता है।

यद्यपि आत्मा एक हैं फिर भी अज्ञान के फलस्वरूप वह अनेक प्रतीत होती है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पडने से यह अनेक प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है।

शुद्ध चैतन्य होने के कारण आत्मा का स्वरूप ज्ञानात्मक है। वह स्वयं प्रकाश है तथा विभिन्न विषयो को प्रकाशित करता है। आत्मा पाप और पुण्य के फलों से स्वतन्त्र है। यह सुख दुख की अनुभूति नहीं प्राप्त करती है। आत्मा को शंकर ने निष्क्रिय कहा है। यदि उसे सक्रिय माना जाए तब वह अपनी क्रियाओं के फलस्वरूप परिवर्तनशील होगा। इस प्रकार आत्मा की नित्यता खण्डित हो जायेगी।[१]

आत्मा विशुद्ध ज्ञान का नाम है। आत्मा, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की व्यावहारिक त्रिपुटी से परे है। वह ज्ञाता ज्ञान–ज्ञेय त्रिपुटी का आधार है। इसी अधिष्ठान पर तो त्रिपुटी का खेल हो रहा है। अतः आत्मा त्रिपुटी का अंग नहीं है।

आत्मा देश, काल और कारण–नियम की सीमा से परे है। आत्मा सभी विषयों का आधार स्वरूप है। आत्मा सभी प्रकार के विरोधों से शून्य है। आत्मा त्रिकाल–बाधित सत्ता है। वह सभी प्रकार के भेदों से रहित है। वह अवयव से शून्य है। शंकर के दर्शन में आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा ही वस्तुतः ब्रह्म है। आत्मा और ब्रह्म का सार एक है।

---

१. शंकर का अद्वैत वेदान्त – प्रो० हरेन्द्रप्रताप सिन्हा पृ० सं० ३०६

उपनिषद के वाक्य **'अहं ब्रह्मास्मि' (I am Brahman)** से भी आत्मा और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होता है।

आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्व ही अद्वैत वेदान्त मे परम तत्त्व माना गया है। आत्मा या ब्रह्म एक तत्त्व के दो नाम हैं। दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है अर्थात् पूर्णतः अभेद है। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। यह जड जगत से भिन्न चेतन तत्त्व है। इस चेतन (आत्मतत्व) का अवचेतन (अनात्मतत्व) से सम्बन्ध तो मात्र भ्रम या अभ्यास है।

आत्मा शुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्रमाण आदि तो प्रकाश है उनमें प्रकाशित करने की शक्ति तो प्रकाश पुञ्ज (आत्मा) के कारण ही है। अतः स्वय प्रकाश की सिद्धि का प्रश्न की नहीं। आत्मा सभी प्रमाणों का आधार है।[1] यह सर्वाधार चैतन्य है। इसके आधार पर ही अन्य चेतन व्यापार सम्पन्न होंगे। शुद्ध चैतन्य होने से आत्मा प्रमाता है प्रमाता को स्वीकार किये बिना प्रमाण की चर्चा नहीं हो सकती।

अतः प्रमाता की सत्ता तो प्रमाण व्यवहार की पूर्व मान्यता है। आत्मा स्वयं सिद्ध है, प्रमाण से गम्य नहीं है, परन्तु आत्मा अगम्य भी नहीं। यह अनुमेय नहीं, परन्तु भी नहीं। यह अनुभूति गम्य है विशुद्ध, शान्त और एकाग्रचित्त से आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। अतः आत्मा अनुमेय नहीं, अनुभूति गम्य है। **आत्मा तर्क ज्ञान का विषय नहीं, सद्यः अनुभूति का विषय है।**

---

१. वेदान्त दर्शन – डा० बी० एन० सिंह पृ० सं० ५४०

इस प्रकार आत्मा अप्रमेय होने पर भी अज्ञेय नहीं।

श्रुतियों में आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को सिद्ध करने के लिए तर्क का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ चेतना की निम्नलिखित अवस्थाये बतायी गयी है :–

(क) जाग्रत अवस्था इसमें चेतना का विषय बाह्य होता है।

(ख) स्वप्न–इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है।

(ग) सुषुप्ति–इसमें चेतना का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है। यह आनन्द की अवस्था है।

(घ) तुरीय–यह शुद्ध चेतना की अवस्था है जिसमें कोई भी विषय नहीं होता।

इससें यह स्पष्ट होता है कि सभी अवस्थाओं में चेतन है। अतः चेतना ही आत्मा का स्वरूप है।[१]

अद्वैतमत मे्ं चैतन्यता के साथ–साथ आत्मा को सुख रूप मे माना गया है। अद्वैत मत मे सुख को स्वय साध्य माना जाता है साधन नहीं। हम सभी चीजों की कामना सुख के लिए करते हैं परन्तु सुख की कामना किसी अन्य कि लिए नहीं करते।

आत्मा और ब्रह्म दोनों ही विशुद्ध विज्ञान के नाम हैं विशुद्ध विज्ञान एवं प्रकाश स्वयं और और विशुद्धसम्बिद् रूप आत्मतत्त्व का नाम है। जो युष्मत् और अस्मत् प्रत्यय गोचर विषय और विषयी के द्वैत से एवं ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय की व्यावहारिक त्रिपुटी से परे है, बुद्धि या जीव स्वयं ही अविद्याजन्य है और द्वैत–प्रपंचान्तर्गत हैं। अद्वैत और स्वयंसिद्ध आत्मतत्व का स्पर्श करने की सामर्थ्य उसमें नहीं ।

---

१. वेदान्त दर्शन – डा० बी० एन० सिंह पृ० सं० ५४३

"सर्वं ब्रह्ममयं जगत्"। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"।

द्वैत, भेद, प्रपंञ्च मिथ्या है, यही आत्मतत्व हैं। यही साक्षी है, यही वास्तविक ज्ञाता है। बुद्धि या जीव व्यावहारिक ज्ञाता है। आत्म तत्व वास्तविक या पारमार्थिक ज्ञाता है। ज्ञान और ज्ञाता मे तादात्म्य सम्बन्ध है। आत्मा कूटस्थ नित्य है।[1] इसमे परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं। यह सदा सर्वदा वर्तमान रहता है। अतः इसका अन्यथा भाव नहीं हो सकता।[2] दृष्टा की दृष्टि का और ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें तादात्म्य सम्बन्ध है।

इसलिए कहा गया है कि ब्रह्म को जानने के लिए स्वयं ब्रह्म बनना पडता है।[3] सापेक्ष बुद्धि का आधार भूत तत्व स्वयं निरपेक्ष और इसलिए स्वतः सिद्ध हैं। सापेक्ष बुद्धि के विकल्प जाल मे निरपेक्ष ब्रह्म बद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म उपेय है जीव ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करने वाली ब्रह्म विद्या उसका उपाय है। उपेय की प्राप्ति पर उपाय भी कृतकार्य होकर निष्प्रयोजन हो जाता है। जो मनुष्य सविकल्प बुद्धि के जाल में ब्रह्म को फंसाने की चेष्ठा करता है, वह अवश्य ही आकाश को चर्म के समान लपेटना चहता है या आकाश मे सीढी लगाकर ऊपर चढ़ना चाहता है आकाश में पक्षियों के और जल में मछलियों के चरण चिन्हों की खोज कर रहा है।[4]

---

१. य एव हि निराकता तदेव तस्य स्वरूपम्। शारीरिक भाष्य २/३/७.

२. न ज्ञातुरन्यथा भावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्–शारीरिक भाष्य २/३/७.

३. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।

४. ऐतरेय भाष्य २/१.

ब्रह्म जो विशुद्ध विज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्व है बुद्धि की समस्त कल्पनाओं का आधार है।[1] ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्धमुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है।

ब्रह्म शब्द से ही नित्य शुद्ध आदि अर्थों का बोध होता है। सबकी आत्मा स्वरूप ब्रह्म सबको ज्ञात है क्योंकि सब कोई अपना अस्तित्व स्वीकार करता है, कोई नहीं कहता कि मै नहीं हूँ। यदि आत्मा के अस्तित्त्व का ज्ञान न होता तो सब कोई **"मै नहीं हूँ"** ऐसा अनुभव करता है। और आत्मा ही ब्रह्म है। लोकायत और साधारण व्यक्ति चैतन्य विशिष्ट देहमात्र को आत्मा मानते है।

दूसरे लोग चेतन इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं और अन्य लोग मन को आत्मा मानते है। कोई–कोई क्षणिक विज्ञान को आत्मा कहते हैं। कुछ के मत में आत्मा शून्य है। और कुछ के विचार में देहादि से भिन्न कर्ता–भोक्ता आत्मा है। (न्याय) कुछ के मत में आत्मा केवल भोक्ता है कर्ता नहीं है (सांख्य) कुछ लोग जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर मानते है।

कुछ व्यक्तियों का मानना है कि ईश्वर भोक्ता, जीव, की आत्मा है। इस प्रकार तर्क और श्रुति के आधार पर अनेकों विवाद है। इन सब पर बिना विचार किये जिस किसी मत को मानने वाला मोक्ष से वंचित होगा, और अनर्थ हो जायेगा। अतः ब्रह्म जिज्ञासा का अर्थ है। श्रृत्यनुकूल तर्क से मोक्ष प्रयोजन वाले वेदान्त वाक्यों की मीमांसा करना।

---

१. युक्तं च कार्यस्य नेति–नेतीति प्रतिषेधनं ।
न तु ब्रह्मणः सर्वकल्पना मूलत्वात् ।। शारीरिक भाष्य ३/२/२२

ईश्वर और जीव

शंकर के अनुसार जीव अपने वास्तविक रूप मे ब्रह्म ही है। दूसरी ओर समस्त विश्व का कारण और सृष्टा ईश्वर अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है। इससे स्पष्ट है कि अपने वास्तविक रूप मे जीव ईश्वर के साथ तादात्म्य रखता है। किन्तु इसकी तात्विक एकता के कारण उनके बीच विद्यमान महत्वपूर्ण विविधताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। शंकर ने इस भेद को स्वीकार किया है। ईश्वर, नित्य, शुद्ध चेतन और मुक्त है।[1] उसका ज्ञान और शक्ति निर्बाध है।[2] वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है।

उसके दिव्य गुणों की सीमा नहीं है। वह अक्षय ज्ञानशक्ति सम्पन्न है। माया उसके ज्ञान की बाधक नहीं है क्योंकि माया को धारण करने वाला वही है। वह समस्त प्रत्ययों का साक्षी है। यद्यपि वह समस्त राग द्वेषादि से मुक्त है। फिर भी सभी जीवों का रक्षक है। वह उसका अन्तर्यामी और उनके शुभाशुभ कर्मो का फलदाता है। वह समस्त विश्व का कर्ता, भर्ता और संहारक है।

वह एक है। ईश्वर दो नहीं हो सकते, क्योंकि दो होने पर विश्व का कार्य इतने व्यवस्थित ढंग से नहीं चल सकता था। यद्यपि वह विश्व का सर्जनकर्ता और शासक आदि होने के नाते उससे सम्बन्धित है। तथापि वह विश्व पर आश्रित नहीं है वह पापों और क्लेशों से पूर्णरूपेण मुक्त है।

दूसरी ओर जीव, कर्ता और भोक्ता दोनो है। वे पाप और पुण्य अर्जित करते है, और सुख दुःखादि का अनुभव करते है।

---

१. शांकर भाष्य गीता ४–५ ब्रह्मसूत्र २, १, २२, शांकर भाष्य ईश(नित्य मुक्त ईश्वर) शांकर भाष्य गीता ६–१२

२. वहीं ४,५.

उनकी शक्तियां और ज्ञान सीमित है।[1] वे प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से भ्रम मे पडतें है और राग द्वेष आदि के विषय बनते हैं। यद्यपि तत्वत. जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है, किन्तु अज्ञान के कारण अपने को मरणशील, भयत्रस्त कर्ता, भोक्ता, आदि मानते है।[2] इस प्रकार संसारी जीव ईश्वर से भिन्न है।[3] जीव उपासक है, और ईश्वर उपास्य है। जीव प्राप्तकर्ता है और ईश्वर प्राप्य हैं और प्राप्तकर्ता। स्वयं प्राप्य नहीं हो सकता है।

यह कहना उचित नहीं है कि एक ही व्यक्ति कर्ता और क्रिया का विषय दोनो है। एक चिन्तनकर्ता है और दूसरा चिन्तनीय है। एक ज्ञाता है और दूसरा ज्ञेय है। यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों तात्विक रूप से ब्रह्म ही है। किन्तु उपाधि भेद के कारण दोनों में अन्तर है।

ईश्वर की उपाधियॉ शाश्वत और अपरिमेय ज्ञान और शक्तिशाली हैं, किन्तु जीव की उपाधियाँ है, अविद्या, काम और मनः शारीरिक तन्त्र (अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण) पंचदशी के लेखक स्वामी विद्यारण्य ने ठीक ही कहा है, कि ईश्वर की उपाधि शुद्ध सत्वगुण मयी माया और प्रकृति है, जबकि जीव की उपाधि अविद्या है। भिन्न–भिन्न जीवों में अविद्या भिन्न–भिन्न होती है। यही भिन्नता उनकी अनेकता का कारण हैं।

<u>शंकर एक जीववाद के समर्थक है या अनेक जीववाद के</u>

शंकर के अनुयायियों में कुछ एक जीववादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तथा कुछ अन्य लोगों ने अनेक जीववाद का उदाहरणार्थ सिद्धान्त

---

१. शांकर भाष्य गीता १,२,८– १,२,११

२. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र १,२,८

मुक्तावली के लेखक प्रकाशानन्द ने एक जीववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[1] विद्यारण्य अविद्या को जीव की उपाधि मानकर दूसरे मत का समर्थन करते है। एक जीववाद को मानने वाले विद्वान प्रत्येक वस्तु की व्याख्या स्वप्न की उपमा देकर करते हैं, उनके अनुसार अनेक जीवों के आभास सहित समस्त विश्व एक जीव द्वारा की गयी अज्ञान जनित परिकल्पना है।[2] यह स्पष्ट रूप से अहंमात्रवाद है। जो मुक्त और बद्ध जीवों के बीच भेद बताने मे असमर्थ है।

शंकर के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे अनेक जीववाद में विश्वास रखतें हैं। उन्होंने बार–बार न केवल जीवो की अनेकता और भेद का ही प्रतिपादन नहीं किया है वरन् यह भी तर्क दिया है कि यदि जीव अनेक न हो तो अपने कर्मो के फलभोग की इच्छा रखने वाले जीवो और मुक्तिपरायण जीवों में भेद करना सम्भव नहीं होगा। एक की समय में एक आदमी मुक्ति की कामना करने वाला और अपने कर्मफलों के भोग की इच्छा रखने वाला नहीं हो सकता। जीव का अस्तित्व इन्द्रियानुभव में आने वाला तथ्य है।

शंकर ने जीवों की अनेकता भी व्यावहारिक अस्तित्व के अर्न्तगत ही मानी है। व्यावहारिक दृष्टि से अन्य सब प्रकार की अनेकताओं की भाँति जीवों की अनेकता भी एक तथ्य है। जो व्यक्ति ईश्वर और जीव में भेद मानता है। और मनुष्य योनि से निम्न और उच्च स्तर के प्राणियों के विभिन्न रूपों में स्वीकार करता है, वह अनेक जीववाद में विश्वास किये बिना ही रह ही नहीं

---

१. सिद्धान्तालेश संग्रह पृ० सं० १२१.

२. शांकर भाष्य गीता ४ : २

(नहि एकस्य मुमुक्षत्वं फलार्थित्वं च युगपत संभवति)

सकता है।

इसके अतिरिक्त शकर ने स्पष्ट रूप से स्वप्न जगत् की वस्तुओ और सामान्य अनुभवों की वस्तुओं में भेद किया हैं। अतः वे एक जीव वाद के सिद्धान्त को नहीं मान सकते है। एक जीव वादियों के अनुसार जीवो की अनेकता सहित प्रत्येक वस्तु की अनेकता एक जीव की ही काल्पनिक रचना है। ठीक वैसे ही जैसे स्वप्न जगत् की वस्तुओं की रचना होती है।

प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद -

जीव और ब्रह्म या जीव और ईश्वर के बीच इन्द्रियानुभविक सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए शंकर के कुछ अनुयायियों ने विभिन्न बर्तनों मे पानी में सूर्य प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया है। तथा कुछ अन्य लोगों ने घडे में आकाश का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

पहला मत प्रतिबिम्बवाद और दूसरा अवच्छेदवाद कहलाता है, दोनों सिद्धान्तों के अनुसार सब जीव अपने तात्विक रूप में एक ही शुद्ध चेतन तत्व है फिर भी अपनी उपाधियों द्वारा सीमित होने के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध जल सूर्य को प्रभावित न कर केवल सूर्य के प्रतिबिम्ब को ही प्रभावित करता है। उसी प्रकार अन्तःकरण के सद्गुणों या दुर्गुणों से केवल जीव ही प्रभावित होता है। शुद्ध चेतन आत्मा या ब्रह्म नहीं है। उदाहरणार्थ प्रकतार्थ विवरण में ईश्वर को माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र माना गया हैं। और जीवो को आवरण विक्षेष शक्ति वाले उन असंख्य अंशो में उसी चेतना का प्रतिबिम्ब माना गया है। जिन्हे अविद्या कहते है।[१]

---

१. सिद्धान्तालेश संग्रह पृ० सं० ८२

शारीरिक भाष्य के लेखक के अनुसार ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब ही ईश्वर है। और ब्रह्म का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है।[1]

किन्तु विद्यारण्य के अनुसार "ईश्वर माया मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।"[2] कुछ अन्य विचारक जो अवच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है, वरन् ब्रह्म स्वयं अन्तःकरण की उपाधियों से सीमित हो जाता है, ईश्वर माया उपहित ब्रह्म है। अवच्छेद वादियों के मतानुसार अरूप वस्तु का प्रतिबिम्ब ही सम्भव नही हैं।[3] अतः वे आकार रहित अन्तःकरण में आकार रहित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बुद्धिगम्य नहीं मानते, इसके अतिरिक्त जीवों को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र मान लेने से उनकी तात्विक सत्यता भी नष्ट हो जाती है।

आचार्य शंकराचार्य ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि वे इन दोनों सिद्धान्तों में से किसका समर्थन करते है। उन्होंने दोनो मतो का प्रयोग किया है। जब वे ब्रह्म और जीवों के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। तो वे जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। यहाँ वे प्रतिबिम्बवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं।

किन्तु जब वे उसी तथ्य की व्याख्या सर्वव्यापी आकाश का घड़े आदि में परिसीमित होने का द्रष्टान्त देकर करते है तो वे अवच्छेदक के समर्थक लगने लगते है।

---

१. सिद्धान्तालेश संग्रह पृ० सं० ८५.

२. पंचदशी १,१६,१७

३. सिद्धान्तालेश संग्रह पृ० सं० १०८ (रूपानुपहितप्रतिबिम्बों न युक्तः सुतरांनिरूपे)

उदाहरणार्थ ब्रहदाकाश और घटाकाश के दृष्टान्त से जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता भली–भाँति स्पष्ट हो जाती है, और जल मे सूर्य–प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से जीव की सासारिक प्रकृति उसकी मुक्ति तथा ऐसे ही अन्य इन्द्रियानुभविक तथ्य अधिक अच्छी तरह से समझाये जाते है।[1]

जीव और साक्षी -

"जीव अन्तः करण विशिष्ट शुद्ध चेतना है और अन्त.करण की उपाधि से ही वह चेतना साक्षी कहलाता है" दूसरे शब्दों मे जीव वह तत्त्व है जिसका विशेषण अन्तःकरण है और साक्षी वह है जिसकी उपाधि अन्तःकरण है। विशेषण और उपाधि में अन्तर यह है कि विशेषण किसी वस्तु को अपने साथ मिलाकर उसे दूसरी वस्तुओं से भिन्न करता है, जबकि उपाधि उस वस्तु को अपने साथ बिना मिलाये, उसे दूसरी वस्तुओं से भिन्न करती है, उदाहरणार्थ घडे का रग अथवा रूप उसके विशेषण है क्योंकि ये विशेषताएं उस घडे की एक अंग बन गयी है। इनके कारण घड़ा दूसरी वस्तुओं से भिन्न हो जाता है। किन्तु श्रवणनली की दीवारे उसके अन्दर घिरे हुए आकाश की उपाधि हैं। क्योंकि वे आकाश से तादात्म्य किये बिना ही श्रवणनली के आकाश को शेष आकाश से भिन्न करती है।

इसी कारण भौतिक अन्तःकरण वस्तुओं को प्रकाशित करने की क्षमता न रखने के कारण उस चेतना की उपाधि कहलाता है। जो उन सब वस्तुओं को प्रकाशित करती है। अतः साक्षी वह शुद्ध चेतना है जो जीव के विभिन्न अनुभवो का निरन्तर बोध रखते हुए भी उनसे भिन्न है।

१. वेदान्त परिभाषा पृ० सं० ४६.

जीव उस चेतना और अन्त.करण के बीच एक तादात्म्य भाव है। शकर ने जीव की तीन अवस्थायें मानी है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जीव स्थूल शरीर और इन्द्रयों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, और उसे वैश्व कहते हैं।

जीव को यह नाम संभवत. इसलिए दिया गया है, कि वह इस अवस्था में इन्द्रियों द्वारा बाह्य विश्व से सम्बन्ध स्थापित करता है। स्वप्न अवस्था मे इन्द्रियॉ कार्य नहीं करती है। किन्तु मन अपना कार्य करता रहता है।

जाग्रत अवस्था में मन पर जो संस्कार पडते हैं, उनको लेकर वह काल्पनिक विषयों की रचना करता है। इस अवस्था मे जीव सूक्ष्म शरीर से अपना तादात्म्य रखता है, तथा उसको तैजस् कहा जाता है। सुषुप्तावस्था के समय न मन कार्य करता है, और न इन्द्रियाँ। अतः इस समय अन्त.करण अपने मूल अर्थात् अविद्या में वापस चला जाता है।

अविद्या जीव का कारण शरीर है। इस अवस्था मे जीव को प्राज्ञ कहते हैं।[1] ये सब अवस्थाए जीव की हैं, साक्षी की नहीं। साक्षी उनका केवल प्रकाशक हैं।[2] यद्यपि अपनी उपाधि अर्थात् अन्तःकरण के साथ तादात्म्य रखने पर साक्षी ही जीव कहलाता है, किन्तु उन दोनों में अन्तर इतना है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'साक्षी' शब्द का अर्थ है दृष्टा। वह सभी वस्तुओं एवं अनुभवो का दृष्टा है। किन्तु उसे देखने वाला कोई नहीं है। वह समस्त ज्ञान का ऐसा सतत् दृष्टा है। जिसे वस्तुगत रूप में कभी नहीं जाना जा सकता है। वह स्वयं प्रकाशित है। अर्थात् अपनी चेतना से ही अपने को जानता है।

१. शांकर भाष्य माडूक्य कारिका १,२.

२. शांकर भाष्य श्वेताश्वतर ६,११ (साक्षी – दृष्टा)

प्रो० हिरियन्ना के अनुसार जीव तो आत्म चेतना का विषय बन जाता है, क्योंकि उसमें वस्तुगत तत्व विद्यमान है। किन्तु साक्षी को ज्ञेय मानना गलत होगा, क्योंकि समस्त ज्ञान में वह अभिज्ञा शुद्ध तत्व है। उसे ज्ञेय मानने पर एक और ज्ञाता मानना पडेगा। इस प्रकार इस क्रम में अवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। साक्षी को अज्ञात भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्वभावतः स्वय प्रकाश स्वरूप होने के कारण उसे ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं हैं। उसका अस्तित्व ही उसका ज्ञान है वह अज्ञात नहीं रहता हैं।[1] साक्षी न कर्ता है और न भोक्ता। वह शुद्ध आत्मा है। दूसरी ओर जीव इन्द्रियानुभविक अहं है। वह कर्ता और भोक्ता दोनो है।[2]

पाप और पुण्य तथा बंधन और मुक्ति का सम्बन्ध जीव से है साक्षी से नहीं। साक्षी अन्तःकरण की उपाधि से युक्त शुद्ध चेतना का अप्रभावित तत्व होने के कारण वस्तुतः सदैव मुक्त है। इसी कारण शंकर मुक्ति को ऐसा तथ्य मानते है जो जीव के लिए गुप्त रहस्य है। तत्व ज्ञान प्राप्त होने पर जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी कार्य के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, फिर भी जब जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तो साक्षी का संक्षिप्त भाव भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साक्षित्व और जीवत्व दोनों ही व्यावहारिक तथ्य है। ब्रह्म में उनका अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह भेद रहित सर्वव्यापी परम तत्व है; उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भी भेद नहीं है।

---

१. आउट लाइन्स आंफ इण्डियन फिलासफी पृ० सं० ३४३.

२. शांकर भाष्य श्वेताश्वतर ४,७,६ प्रश्न ३,१०,४,६.

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जीव और साक्षी के मध्य का अन्तर बहुत महत्वपूर्ण हैं स्वचेतना का तथ्य सामान्य रूप से सबको अनुभूत होता है किसी अन्य परिकल्पना द्वारा इसकी सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती है। स्वचेतना का अर्थ यह है कि एक ही आत्मा ज्ञान की एक ही किया की ज्ञाता और ज्ञेय दोनो है किन्तु ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर इतना मौलिक है कि दोनों को एक मानना असंगत प्रतीत होता है।

जीव को साक्षी और अन्तःकरण के बीच समन्वय स्थापित करने वाला मान लेने से स्वचेतना की व्याख्या पर्याप्त सीमा तक हो जाती है। कारण यह है कि इस मान्यता के अनुसार एक ही आत्मा मे आत्मगत और वस्तुगत दोनो पक्ष विद्यमान है।[1]

जीव का आकार -

शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक है। ब्रह्म अनन्त और विभु है, अतःयह अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि जीव को भी अपने मूल रूप में वैसा ही होना चाहिए, यही निष्कर्ष शंकर द्वारा की गयी उन सिद्धान्तो की आलोचना से भी निकलता है जिनके अनुसार जीव मध्यम या शरीर के आकार का हैं।[2] अथवा अनुरूप है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है, कि शंकर के मत में जीव अपने इन्द्रियानुभविक रूप में विभु है।

---

१. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र २,२,३४,३६.

२. वही २,३,२९.

शंकर ने न कभी ऐसा कहा है और न उसके द्वारा की गयी आलोचनाओं से यह आशय स्पष्ट ही होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि शकर जीव को अपने वास्तविक रूप मे भिन्न प्रकार का अर्थात् विभु मानते है।

शंकर के अनुसार जीव अपने जीवत्व भाव में न शुद्ध चेतना है, और न केवल अन्तःकरण शुद्ध चेतना उसका तात्विक रूप है, और अन्त·करण उसकी उपाधि है। जीव एक प्रकार से इन दोनो की एकता है। हम चाहे उसे घटाकाश के दृष्टान्त से समझना चाहें अथवा जल में सूर्य प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से, किन्तु जीव किसी प्रकार भी सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता है आकाश जैसा है उस रूप में वह विभु हो सकता हैं किन्तु घटावेण्ठित आकाश विभु नहीं हो सकता। सूर्य भी स्वयं बहुत बड़ा हो सकता है, किन्तु उसकी तुलना में जल में उसका प्रतिबिम्ब बहुत छोटे आकार का होगा।

इसी प्रकार शुद्ध चेतन ब्रह्म विभु हो सकता है। किन्तु छोटे से अन्तःकरण की उपाधि से उसका एक अश उसी प्रकार का नहीं हो सकता। जिस प्रकार घडे के अन्दर सीमित आकाश घडे के आकार का माना जाता है। उसी प्रकार जीव भी अन्तःकरण की उपाधि से अन्तःकरण के आकार का ही माना जायेगा। चूँकि अन्तःकरण बहुत छोटे आकार का है, अत· जीव भी बहुत छोटे आकार का माना जाना चाहिए।

ईश्वर एवं जीव में भेद करते हुए शंकर ने कहा है कि जीव केवल एक ही शरीर में सीमित रहता है। और इसके विपरीत ईश्वर प्राणियों के शरीर के बाहर भी व्याप्त रहता है।[1]

---

१. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र १,२,३, (न तो शरीर एवं भवति),

ईश्वर जीवों के शरीर के बाहर और भीतर सर्वत्र है।[1] अत: शरीर में सीमित रहने वाला जीव विभु कैसे हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि शकर जीव को शरीर के अन्दर सीमित मानने के कारण उसे इसी रूप में विभु नहीं मान सकते।

शंकर जीवों को अनेक मानते हैं। एक ही प्रकार की अनेक वस्तुयें विभु नहीं हो सकती हैं। अतः शंकर जैसे कुशल तर्कशास्त्री जीवों को अनेक मानकर उन सबको विभु कदापि नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त शंकर आवागमन के उतने ही बड़े समर्थक हैं। जितना कि और कोई हो सकता है[2] किन्तु आवागमन या स्थानान्तरण किसी विभु सत्ता कि लिए कैसे सम्भव है। अतः शंकर के अनुसार आवागमन में पडने वाला जीव अवश्य ही सीमित आकार का होना चाहिए।

निःसंदेह यह सत्य है कि शंकराचार्य उन लोगों से सहमत नहीं है, जो जीव को ब्रह्म या ईश्वर का अंश मानते है। शास्त्रों में जहां कही **अंश** शब्द आया है; वहॉ उन्होने उसका अर्थ अंश के समान किया हैं। किन्तु इसका भी यह अर्थ नहीं हो सकता है कि जीव अपने इसी रूप में विभु है। ऐसा मानना उन्हीं के अन्यत्र कहे गये वचनों के विपरीत होगा, क्योंकि उन्होंने कई बार कहा है कि जीव केवल व्यक्ति विशेष में सीमित है। यदि उनके शब्द 'अंश' इनका यह अर्थ नहीं हैं । तो उसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि वह ब्रह्म की भांति विभु है। यदि एक वस्तु जो किसी अन्य वस्तु से तादात्म्य रखती है; उसका अंश नहीं कहा जा सकता, तो उसे 'अंश इव' भी नही कहा जा सकता।

---

१. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र १,२,३,(जीवस्तु शरीर एवं भवति).

२. शांकर भाष्य बृहदारण्यक ४,४,६– ४,४,१० शांकर भाष्य छान्दोग्य ५,१०,७

यदि जीव को जीव रूप में ही ब्रह्म के समान विभु माना गया है तो उसे 'अंश इव' कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता है जीव और ब्रह्म के बीच इन्द्रियानुभविक अन्तर के कारण ही जीव का 'अंश इव' कहा जाता है। यह अन्तर स्पष्टतः अन्तःकरण की उपाधि के कारण है और अन्तःकरण लघु आकार का हैं। तथा जीव का जीवत्व भी इस उपाधि के कारण है।

अतः व्यावहारिक दृष्टि से जीव को भी लघु आकार ही मानना चाहिए। यह मत श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि का है। और शकर भी इसी को स्वीकार करते है।

इन दोनो के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि मे जीव अणु रूप है और पारमार्थिक दृष्टि से विभु ऋषि का कहना है कि एक बाल के अग्रभाग को सौ भागों में विभाजित करो और फिर पुनः सौ भागों में विभाजित करो, इस प्रकार जो एक भाग प्राप्त होगा, उसी के आकार का जीव समझो। यह जीव असीम भी है; अथवा यह कहें कि वह असीम होने की भी क्षमता रखता है।

इस मंन्त्र पर भाष्य लिखते हुए शंकर ने भी यही बात कही है, किन्तु उसमें इतनी बात और जोड़ दी है, कि लिंग देह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उसके परिमाण के अनुसार इसका परिमाण बताया जाता है। अतः स्पष्ट है कि शंकर जीव को जीव रूप में छोटे आकार का मानते हैं किन्तु उसे अपने वास्तविक स्वरूप में अनन्त भी स्वीकार करते है।[१]

मायायुत ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जीव और ईश्वर में भेद है। पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं ।

---

१. शांकर भाष्य श्वेताश्वतर ५,६ (स च जीवस्वरूपेण, आनन्त्याय, कल्पते स्वतः)

"जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

व्यावहारिक दृष्टि से जीव और ईश्वर दोनो अविद्यायुक्त हैं किन्तु ईश्वर की अविद्या शक्ति मूलाविद्या या माया कही जाती है और जीव को केवल अविद्या। माया अविद्या को अपने वश में रखती है; जीव को अविद्या अपने वश मे कर लेती है।[1]

ईश्वर पर अविद्या का अधिकार न होने से वे आनन्दमय है, जीव पर अविद्या सदा हावी रहती है; अतः वह दु,खमय है मुण्डकोपनिषद् ३/१/२ में बताया गया है कि दो पक्षी जो सदा साथ–साथ रहते हैं और एक दूसरे के परम मित्र हैं एक ही वृक्ष पर रहते है किन्तु उसमें से एक तो (जीव) फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा (ईश्वर) बिना खाये केवल देखा करता है। जीव भोगता है (पिवति) ईश्वर उसे भोग कराता है (पापयति) ! जीव भोक्ता है ईश्वर नियन्ता है। जीत कर्ता है ईश्वर दृष्टा है।

कठोपनिषद् के अनुसार (१/३१:, ३/३/३४) जीव छाया है ईश्वर आतय है। अर्थात् एक अंधकार में है और दूसरा प्रकाश मे है। फिर भी दोनो साथ–साथ एक ही "गुहा" (हृदय) में रहते है। दोनो का कारण अविद्या है; किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। निर्गुण और सगुण, निर्विशेष और सविशेष, पर और अपर ब्रह्म में अर्थात् मायातीत ब्रह्म और मायायुत ईश्वर में भी कोई भेद नही।

अविद्या के नष्ट होते ही अविद्याजन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है और इसके नष्ट होते ही अहंकार एवं ममकर की कल्पनाएं, जीव के जीवत्व,

---

१. स ईशो यद् वशे माया स जीवोंयस्तपार्दितः ।

कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या कल्पनाए भी विलीन हो जाती है एवं जीव ब्रह्मैकत्वज्ञान हो जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो बन्धन और मोक्ष दोनो ही मिथ्या है और यह विद्या द्वारा अविद्या नष्ट होते ही जीव ब्रह्ममय हो जाता है।[1]

जीव गुणों से सम्बद्ध होकर जन्म–मरण रूप संसार चक्र में घूमता है किन्तु जो इन गुणो से अपने को असम्बद्ध जान लेता है वह नही घूमता।[2] इस जीवात्मा को अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है।

सूक्ष्म होने पर भी जीवात्मा अनन्त होने में समर्थ है। यह सदा मुक्त ही है; फिर भी यह बद्ध प्रतीत होता है यह बुद्धि के गुण संकल्प से और अपने गुणरूप से अहकार से युक्त होने के कारण एक देशीय बना रहता है।[3] यथार्थ रूप से यह जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरूष है और नपुंसक ही है। जब जिस शरीर को यह ग्रहण करता है उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। अर्थात् भेद शरीर में ही होता है, जीवात्मा सर्वभेदशून्य है सारी उपाधियों से रहित है।

वस्तुतः जीवात्मा नित्य–चेतन ज्ञान स्वरूप है, अनित्य, विनाशी, जड शरीर और भोगों से वास्तव में इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही, अत. यह जन्म–मरण

---

१. बृहदारण्यक भाष्य ४/४/६

२. गुणान्वयों यः फलकर्मकर्त्ता, कृतस्य तस्यैव स चोप भोक्ता ।
स विश्वरूस्त्रिगुण स्त्रिवर्त्मा, प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।।
(श्वेताश्वतोपनिषद्).

३. नैव स्त्री न युमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन–तेन स युज्यते ।। (श्वेताश्वतोपनिषद्)

से सर्वथा रहित, सदा एकरस सर्वथा निर्विकार है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता। ब्रह्म ही जीवात्मा है किन्तु अपने अन्तस् में नहीं देख, मोहवश वह भोगो मे भूला रहता है।[1]

जीवात्मा अवस्था मात्र से ही अपने को अल्प जान लेती है किन्तु अपने विभु स्वरूप या अपने ब्रह्म स्वरूप को जान लेने पर उसके लिए कोई शोक नहीं रह जाता।

उस शब्द से परे, स्पर्श से परे, रूप से परे, रस से परे, तथा गन्धों से परे जो अविनाशी नित्य, अनन्त, महान तथा शाश्वत है। उस ब्रह्म को जान लेने पर जीव सदा मुक्त हो जाता है। अर्थात् समान् वस्तु ही समान वस्तु को नही जान सकती है। अपने से भिन्न हम किसी वस्तु को नहीं जान सकते। ब्रह्म को जानने का अर्थ है ब्रह्म हो जाना।

ईश्वर मायापति है जीव मायादास है। ईश्वर में माया या अविद्या की केवल विक्षेपशक्ति उनके अधीन रहकर कार्य करती है ईश्वर मे माया या अविद्या की आवरण शक्ति या अज्ञान का सर्वथा अभाव है। ईश्वर मे माया का शुद्ध सत्व मात्र है जीव त्रिगुणात्मक है ईश्वर मे अज्ञान और अन्तःकरण तथा भौतिक देहेन्द्रियादि नहीं है क्योंकि वे आत्म स्वरूप हैं। उनके देहादि दिव्य और चिन्मय हैं जीव अज्ञान और अन्तःकरण से अवछिन्न चैतन्य है।[2] ईश्वर स्वामी है जीव सेवक है।

---

१. अणोरणीयान्महतो महीया नात्मास्य जन्तोर्निहितों गुहायाम् ।
   तमक्रतुःपश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।। (कठोपनिषद्)

२. शारीरिक भाष्य २,३,३५.

ईश्वर आराध्य, उपास्य, भगवान है,[1] जीव आराधक, उपासक, भक्त है।

शंकराचार्य के अनुसार 'अंशत्व' वास्तविक नहीं है, अपितु अविद्याजन्य प्रतीति मात्र है, क्योंकि ईश्वर वस्तुत निरवयव ब्रह्म है।[2] ईश्वर सत् चित् आनन्द है। जीव सत्–असत्, चित्–अचित् और सुख–दुख का मिश्रण है। जीव अविद्या और कर्म के कारण ससार–चक्र में, जन्म–मरण चक्र में घूम रहा है। ईश्वर जगत के कर्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, नियत्ता है, वे अन्तर्यामी और पर दोनो है। उनकी कृपा से जीव अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्मैक्य प्राप्त कर सकता है।

जीव और ईश्वर का भेद व्यावहारिक है। परमार्थत जीव और ब्रह्म में कोई भेद नही है। <u>जीवो ब्रह्मैव नापरः</u>। वास्तव मे जीव ईश्वर और ब्रह्म एक ही है।

मायायुक्त सगुण ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। जीव अविद्या से युक्त है, अल्पज्ञ संसारी और लघु है। ईश्वर अविद्या को अपने वश मे रखते हैं, जीव को अविद्या अपने वश में कर लेती है। ईश्वर पर अविद्या का अधिकार न होने से वह आनन्दमय है, जीव अविद्या के कारण दुखःमय हैं। जीव सांसारिक दुःख सुखादि का अनुभव करता है, परन्तु ईश्वर नहीं।

अद्वैत वेदान्त में जीव चेतन और शरीर का स्वामी माना गया है, जीव ही प्राणो को धारण करता है जीव संसारी है। अज्ञान से आवृत होने के कारण सांसारिक दुःख–सुख, बृद्धि–ह्मृस आदि को प्राप्त होता है। जीव अज्ञान से आवृत्त रहता है परन्तु ईश्वर माया से।

---

१. ममैवांशो जीवलोको जीवभूतः सनातन· । गीता

२. शांकर भाष्य २,३,४३,४७

मायोपाधिक होने के कारण ही ब्रह्म सगुण ईश्वर कहलाता है। ईश्वर और जीव का अन्तर करने के लिए वेदान्त में बिम्ब–प्रतिबिम्ब की उपमा दी गयी है। चैतन्य एक है, वह माया से प्रतिबिम्बित होकर ईश्वर चैतन्य कहलाता है, और अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हो जीव चैतन्य कहलाता है।

जीव शुभ–अशुभ कर्म करता है और ईश्वर उनके कर्मो के अनुसार पुण्य–पाप आदि फलो का विधान करता है।[1] ब्रह्म का सगुण होना और जीव का संसारी होना तो माया अविद्या कल्पित है। इस माया या अविद्या के निराकरण करने लिए ही **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थात ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है; तत्वमसि अर्थात् वह (ब्रह्म) तुम (जीव) ही हो, अह ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। ब्रह्म ही अविद्या से ससारी जीव है और माया से ब्रह्म ही ईश्वर है।

जगत का स्वरूप

प्रथम दृष्टया यह जगत अनेक प्रकार की वस्तुओं का संघात दिखाई देता है। वास्तव में इसकी एकता और परिवर्तनशीलता की अपेक्षा इसकी अनेकता, भिन्नता, एव अपरिवर्तनशीलता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। सभी विचारशील व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि विश्व की इस ऊपरी विविधता और अनेकता के मूल में एकता है तथा, ऊपर से दिखाई देने वाली स्थिरता के भीतर निरन्तर परिवर्तन हो रहा है।

---

१. ऋतु पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्धे।
छायातयौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता।।
(कठोपनिषद् ३,१) डा० बी० एन सिहं पृ० सं० ५४५

शकर ने संसार की दोनो विशेषताओं को स्वीकार किया है वे इसकी ऊपरी विविधता अस्वीकार न करते हुए भी इसके अन्तर्तम् मे विद्यमान एकता, और व्यवस्था के प्रति पूर्णरूप से सजग है।[1] उनके अनुसार मनुष्य और दूसरे पशुओं के शरीर में एक विशेष ढंग से इन्द्रियों की व्यवस्था होती है[2] और अग्नि, वायु, सूर्य आदि से बना संसार बहुत ही नियमपूर्वक कार्य करता है।[3]

साख्य एव वैशेषिको ने अचेतन प्रकृति और परमाणुओं से विश्व रचना की आलोचना करते हुए शकर ने विश्व मे उपलब्ध क्रम और व्यवस्था के तथ्य को प्रस्तुत किया है, इस व्यवस्था को देखते हुए ही उन्होंने विश्व का अन्तिम कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर को स्वीकार किया है। यद्यपि शंकरबौद्धों का क्षणिकवाद स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु उन्होंने संसार की वस्तुओं को परिवर्तनशील माना है; वे बार–बार संसार और उसकी वस्तुओं को अनित्य कहतें है। वे उनके अनुसार समस्त विकार परिवर्तन के विषय है। वे कहते है कि विनाश तो कार्य का धर्म ही है।

जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अन्त अवश्य होता है।कार्य का अर्थ ही है परिवर्तन। परिवर्तन उसकी प्रकृति है किन्तु जो परिवर्तन का विषय है; वह नश्वर है एक वस्तु कार्य भी हो और नाशवान भी न हो, ऐसा एक साथ सम्भव नही है, सम्भवन स्वरूप वाली कोई वस्तु सत् या अविनाशी नही हो सकती है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह कभी शाश्वत नही हो सकती।

---

१. शारीरिक भाष्य गीता १८,२ (जगद्वैचित्र्योपलब्धेः)

२. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,२,१. (प्रतिनियतावयव)

३. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र १,३,३९. (नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तते)

अतः शंकर इन कार्यों के जगत् को क्षणिक और नाशवान मानते है।[1]

शंकर के अनुसार ससार का दूसरा विशेष लक्षण सुख दुख हैं। संसार सुख दुःख का हेतु है। यद्यपि शंकर साख्य के इस मत की आलोचना करते है कि सुख दुःखादि सासारिक वस्तुओ के लक्षण है।[2] फिर भी शकर यह स्वीकार करते हैं कि यहाँ हम अपने कर्मो के फलस्वरूप सुख दु.ख भोगते है।

वे सांख्य मत की आलोचना इस प्रकार की है कि सुख–दु.ख हमारी मानसिक अवस्थाये हैं, वाह्य वस्तुओं मे उनका वास कैसे हो सकता है।[3] फिर भी इस मत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता , कि चेतन प्राणियो मे संसार की वस्तुएं सुख–दुःख उत्पन्न करती हैं। संसार में भोग्य पदार्थ और भोक्ता प्राणी दोनो है।

संसार के सुख दुःखात्मक लक्षण को तभी अस्वीकार किया जा सकता है; जब हम संसार के सभी सामान्य लोगों को होने वाली अनुभूति की उपेक्षा कर दें। यह सत्य है कि शंकर ने सांसारिक सुखो को अधिक मूल्य नहीं दिया है किन्तु यह अलग बात है, इसका अर्थ यह नहीं है कि शंकर संसार मे सुख–दुःख नही मानते। इसके अतिरिक्त ससार में किंचित देखकर यह भी आशा न करनी चाहिए कि यहाँ आनन्द प्राप्त हो सकता है। इस संसार में पूर्ण आनन्द खोजना व्यर्थ है, इन्द्रियों और विषयो के संयोग से अथवा ससीम वस्तुओं के प्राप्त करने की आकांक्षा तुष्ट होने पर जो सुख मिलता है। वह अन्त में अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

---

१. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र १,३,४१

२. शारीरिक भाष्य गीता १३,२० (सुख, दु.ख तद्धेतु लक्षणः संसार)

३. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,२,१

इसके अतिरिक्त सुख के विषयों की या सुख की इच्छा करना उसके प्राप्त होने के समान नहीं है। उसकी प्राप्ति केवल व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होती है, वरन् कुछ ऐसे हेतु भी होते हैं जो सदा व्यक्ति की नियत्रण शक्ति के बाहर होते हैं। हम चाहे दु.खदाई वस्तुओ की इच्छा न करे। किन्तु उससे बचना सदा हमारी शक्ति के भीतर नहीं होता, जब तक हम इस विश्व में हैं, हमे उन सब दुःखों और कष्टों का सामना करने के लिए हमेशा तत्पर रहना चाहिए।

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का यह मत रहा है कि संसार मे आनन्द की अपेक्षा दुःख अधिक है।[1] इसे चाहे निराशावाद कहें, या इससे भी कुछ अधिक आज की आर्थिक असमानता, राजनैतिक अव्यवस्था और चारो ओर विद्यमान शोषण के युग मे तो यह और भी ज्यादा सत्य है।

रस्किन, टालस्टाय और गांधी जैसे अनेक विचारकों समाज सुधारकों के अथक प्रयास और करने पर संसार सदैव की भांति चल रहा है। चिर स्थायी शांति और शाश्वत संतोष सद्व्यवहार और समतुल्य न्याय अगाध सुख और निश्छल औदार्य जैसी बातें वास्तव में इस संसार के बाहर की प्रतीत होती हैं।

किसी न किसी रूप में ज्ञेय होना इस संसार की वस्तुओं की एक अन्य सामान्य विशेषता प्रतीत होती, जो वस्तु न कभी जानी गयी है और न जानी जा सकती है। उसका कोई वस्तुगत अस्तित्व नहीं होता है। शंकर के अनुसार कोई वस्तु है किन्तु उसका ज्ञान किसी को नही है। नितान्त आत्म व्याघाती कथन है।

---

१. देखिए – कर्मयोग शास्त्र, – तिलक पृ० सं० १.६

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ससार की सब वस्तुएं किसी न किसी के मन की उत्पत्ति हैं।[1]

शंकर आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के इस मत के विरूद्ध हैं कि समस्त वस्तुगत अस्तित्व केवल मानसिक अवस्थाओ का परिणमन है। उन्हे यह अस्वीकार करने में कुछ भी सकोच नहीं है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है वह ज्ञेय भी है। वे कहते हैं कि वह वस्तु कहीं किसी प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा अवश्य जानी गयी होगी[2] या तो वस्तु की अभिव्यक्ति न हो या उसे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा जानने योग्य होना चाहिए। जिन वस्तुओं के विषय मे हम कुछ कहते है वे ज्ञेय होती हैं यदि ऐसा नहीं है तो हम उनके सम्बन्ध मे कुछ कह ही नही सकते है।

अतः शंकर के अनुसार जो कुछ ज्ञेय है उसे ससीम, नश्वर, और दुःख का हेतु अवश्य होना चाहिए।[3] जो ज्ञेय है उसे ससीम होना चाहिए, नाशवान वस्तु सदैव दुःख का कारण होती है अत ज्ञातब्यता, वस्तुनिष्ठता, ससीमता और नश्वरता एक दूसरे के हेतु और एक साथ रहने वाले है। हमारे आत्मगत मन की अवस्थाओ सहित सम्पूर्ण ससार इन्हीं लक्षणों से विभूषित है।

शंकराचार्य और भगवद्गीता संज्ञान, इच्छा, घृणा, सुख–दुःख जैसी तथाकथित आत्मगत मानसिक अवस्थायें और हमारा मन वस्तुगत संसार का वैसे ही एक अग है, जैसे अन्य वाह्य वस्तुए। ज्ञातब्यता, ससीमता और परिवर्तनशीलता विश्व की वस्तुओं के समान मानसिक अवस्थाओं के भी गुण है।

---

१. वस्तुतत्वं भवति किंचिन्न ज्ञायते इति चानुपपन्नम्– शारीरिक भाष्य प्रश्न ६,२.

२. क्वचित्किञ्चत्कस्यचिद्विदितास्यात् – शारीरिक भाष्य केन १,४.

३. यद्विदितं तदल्यंमर्त्य दुःखात्मकं च – शारीरिक भाष्य केन १,४

शंकर के अनुसार संसार के असत् होने के कारण -

वास्तव में देखा जाए तो संसार का स्वरूप ही ऐसा है, जिसके कारण शंकर ने उसे असत् घोषित किया है। शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म ही अन्तिम रूप सेवा तत्वमीमांसीय दृष्टि से सत् है, वह कूटस्थ, स्वयंभू और शाश्वत है। असत् शब्द सत् का प्रतिपक्ष है। अतः असत् शब्द का प्रयोग उस वस्तु के लिए होता है जो सत् न हो या सत् से भिन्न हो।[1] जिसमे सत् के लक्षण विद्यमान न हो उसे असत् कहना उचित ही है।

सत् को परिभाषित करते हुए शंकर ने कहा है कि सत् स्वयंभू, अपरिवर्तनीय और वाधरहित होता है। अत इसके विपरीत जिस वस्तु का अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर करे। परिवर्तनीय हो अथवा जिसका बाध हो सके; उसे असत् समझना चाहिए।

स्पष्ट है कि शंकर का असत् नितान्त अस्तित्वहीन है, वन्ध्यापुत्र या रज्जुसर्प के समान भ्रामक प्रतीति के अतिरिक्त सामान्य रूप से सत् मानी जाने वाली वस्तुए भी असत् है। उनके द्वारा मान्य सत् की कसौटी पर जो खरा न उतरे, वह सब असत् है। नितान्त भ्रामक न होने पर भी हमारे अनुभव की वस्तुए न स्वयंभू है और न कूटस्थ।

वे सब किसी न किसी कारण के कार्य हैं और उनका आदि एवं अन्त दोनो है परिवर्तन उनकी प्रकृति मे निहित है। किसी परिणामी या परिवर्तनशील वस्तु की अपनी ऐसी कोई प्रकृति नहीं होती, जो उससे अविभाज्य हो, परिवर्तनशील होने के कारण वह प्रकृति वस्तु में सदा नहीं रह सकती है।

---

१. सतोऽन्येत्वे अनृतत्वं – शारीरिक भाष्य छान्दोग्य ७,३,२

वस्तु के सभी गुण धर्म उसके कारण से अर्जित होते है।

अत: शंकर के अनुसार कोई भी परिणाम या विकार सत् नहीं होता है।[1] यदि कोई वस्तु अपना वह स्वरूप त्याग देती है जिसके कारण वह उस रूप मे जानी जाती है तो उसे असत् कहा जाता है। जिसके विषय में हमारा ज्ञान परिवर्तित हो जाता है, वह वस्तु असत् है।[2] इस प्रकार शंकर ने समस्त संभवन या परिवर्तन को असत् माना है क्योकि न तो वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व थी, और न विनाश के बाद रहेगी। शंकर के अनुसार घटादि हमारे सज्ञान का विषय एक कार्य अथवा परिवर्तशील होने के समान है।

अत: संज्ञान का विषय भी असत् कहा जा सकता है; यही कारण है कि कहीं–कहीं शंकर ने इन्द्रियानुभविक वस्तुओं की सत्यता उनके ज्ञेय होने के आधार पर भी कही है।

सक्षेप मे शंकर का मत है कि जाग्रत अवस्था की वस्तुए असत् है क्योंकि वे संज्ञान की विषय है। वास्तव मे ज्ञेय होने का अर्थ है सीमित होना। जो वस्तु ससीम है, वह स्वयंभू या स्व–आश्रिय नहीं हो सकती अतः वह अवश्य ही किसी अन्य का कार्य है, और इसीलिए असत् है। कारण से अलग होकर कोई कार्य नहीं प्राप्त हो सकता।

उदाहरणार्थ हम मिट्टी के घडे को उसके उपादान कारण मिट्टी के बिना नहीं प्राप्त कर सकते। अतः घड़ा सत् वस्तु नहीं है। यह केवल एक नाम है; जो वाक् से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार घड़े से सीमित आकाश, सर्वव्यापी आकाश से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखता,।

---

१. नहि वस्तु वृत्तेन विकारो नाम – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४.

२. यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तद्सत् – शारीरिक भाष्य गीता २,१५

उसी प्रकार भोग्य और भोक्ताओं से बना यह विश्व ब्रह्म से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता है। ब्रह्म ही इसका अन्तिम आधार और आश्रय है। इस ससार में जितने भी कारण कहे जाते है वे स्वयं दूसरे कारणों के कार्य है। वे कारणहीन कारण नहीं है। ब्रह्म ही एकमात्र कारणहीन कारण है, अतः केवल ब्रह्म ही सत् है; अन्य प्रत्येक वस्तु उसका आभासमात्र है। यह सब असत् है क्योंकि ब्रह्म से अलग इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

शंकराचार्य ने इन्द्रियानुभविक पदार्थो की सत्यता मापने के लिए जिस दूसरी कसौटी का प्रयोग किया है वह बाघ की कसौटी है। उन्होने इन वस्तुओ की व्यावहारिक सत्यता को स्वीकार किया है।[1] किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उन्हें असत । कहने में कोई सकोच नहीं किया है। क्योंकि उस दशा मे उसका वाध हो जाता है। वे कहते हैं कि यद्यपि इस विश्व का हमें अनुभव होता है, और वह हमारे व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है।[2]

तो भी यह स्वप्न के समान असत् है, क्योंकि दूसरे ही क्षण इसका बाध हो सकता है।[3] इसे मान लेने पर हम शंकर के द्वारा स्थापित निष्कर्ष से बच नहीं सकते है। हमारी जाग्रत अवस्था के अनुभवों का सुषुप्ति और स्वप्न की अवस्था में वैसे ही बाध हो जाता है। जैसे उन अवस्थाओं के अनुभवों का जाग्रत अवस्था में बाध हो जाता है।

---

१ शारीरिक भाष्य प्रश्न ४.

२. अपरोक्षानुभूति ५,६

३. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४

बाध तीन प्रकार का होता है:-

(१) अनुभवमूलक बाध

(२) तार्किक बाध

(३) श्रुति सम्बन्धी बाध

जब शंकराचार्य स्वप्न के अनुभवो का बाध जाग्रत में और जाग्रत के अनुभवों का बाध स्वप्न या सुषुप्ति में होना बताते हैं। तो वे निःसदेह अनुभवमूलक बाध की करते है; किन्तु जब वे इन्द्रियानुभविक विषयो को उनके परिवर्तनशील और पराश्रित स्वरूप के कारण असत् घोषित करते है, तो वे एक प्रकार के तार्किक बाध की ओर निर्देश करते है। एक अनुभव का किसी अन्य वास्तविक अनुभव द्वारा निषेध होने पर अनुभवमूलक बाध कहलाता है।

शंकर जब इन्द्रियानुभविक वस्तुओ को उनकी प्रकृति के कारण असत् कहते हैं ता उनके विचार में अनुभवमूलक नहीं होता है। तार्किक प्रमाण को अनुभवमूलक प्रमाण किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। तार्किक प्रमाण को अनुभवमूलक प्रमाण से प्रमाणित किया भी जा सकता है और नहीं भी।[1]

शंकर ने विश्व को असत् सिद्ध करने के लिए श्रुतियों का भी आश्रय लिया है। उनके द्वारा किये गये ब्रह्म सूत्र (२,१,१४) के भाष्य से यही सिद्ध होता है कि यह संसार सत्य नही माना जा सकता है, क्योंकि यह एक कार्य है।

श्रुतियों ने सभी कार्यो को असत् बताया है। श्रुतियों के अनुसार सभी कार्य असत् इसीलिए असत् है। इस सम्बन्ध में शंकर ने कुछ श्रुतियो का उल्लेख किया है। जो एक के ज्ञान द्वारा सबके ज्ञान का आश्वासन देती है।

१. मुण्डक उपनिषद् १,१,३, – छान्दोग्य उपनिषद ६,१३, –
बृहदारण्यक ४,५,६

वे पूछते हैं कि यदि विश्व वास्तव मे सत् होता और अपने इसी रूप में ब्रह्म से भिन्न भी होता तो श्रुतियॉ एक के ज्ञान द्वारा सबके ज्ञान का वायदा कैसे कर सकती थी। वे कहते है कि यह तभी सभव है जब श्रुतियों द्वारा इन्द्रियानुभविक विश्व की वस्तुओं को असत् घोषित माना जाए।

शंकराचार्य ने उन श्रुतियों का भी सहारा लिया है, जिन्होने द्वैत दृष्टि की निन्दा की है।[1] यदि एकत्व (ब्रह्म) की दृष्टि की तरह नानात्व (ससार) की दृष्टि भी सही होती तो उपनिषद् यह न कहते कि नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु में पडता है।[2] शंकर के विचार से श्रुतियॉ चोर का दृष्टान्त देकर कहती है कि मिथ्याभिनिवेश वाला बन्धन में पडता है और सत्याभिसन्धि वाला मुक्ति प्राप्त करता है।[3] एकत्व की ही वास्तविक सत्ता है नानात्व की उत्पत्ति अज्ञान से होती है क्योंकि यदि एकत्व और नानात्व दोनों सत् होते। तो वह व्यक्ति जो प्रपंञ्चात्मक जगत् को ही सत्य मानता है। मिथ्याभिनिवेश वाला क्यों कहलाता । यदि नानात्व ही सत्य होता तो मुक्ति का कारण ज्ञान न बताया जाता।

प्रातिभासिक व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताएं -

शंकराचार्य द्वारा संसार की असत्यता सिद्ध करने के लिए की गयी युक्तियों के विवेचना के आधार पर हमें यह न मान लेना चाहिये कि वे इसे नितान्त अनस्तित्ववान या भ्रम या केवल मानसिक सत्ता मानते थे। शंकर का ब्रह्मवाद केवल विषयनिष्ठ–प्रत्ययवाद नहीं है।

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४,४,१६. – ४,२,४.

२. भेद दृष्टि भय वदन्नै वैतद्धर्शयति – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४

३. छान्दोग्य उपनिषद् ६,१६.

शंकर ने सभी प्रकार की सत्ताओ को अनस्तित्व से भिन्न माना है। उनके विचार से जो नितान्त अस्तित्वहीन या असत् है, वह न किसी वस्तु का कारण बन सकता है और न कार्य। उससे न कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न वह किसी से उत्पन्न होता है। न कुछ से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता और जिसका कभी अस्तित्व ही नहीं रहा, वह कभी किसी से उत्पन्न हुआ भी नहीं कहा जा सकता।

उदाहरणार्थ त्रिकोणात्मक वृत्तनितान्त असत् है। वास्तविक अस्तित्व मे आने की तो बात ही क्या, उसका प्रतिभासिक अस्तित्व भी नहीं हो सकता। बन्ध्यापुत्र और शशश्रृंग नितान्त असत् वस्तुओं के प्रमुख उदाहरण है।

शंकर के अनुसार बन्ध्यापुत्र की उत्पत्ति न वास्तविक रूप से ही हो सकती है और न माया द्वारा।[1] शशश्रृंग की रचना भी कभी नहीं देखी गयी है।[2] ऐसी वस्तुओं का कोई आधार नहीं है। ऐसी वस्तुओं का कोई स्वरूप नहीं और निरास्पद भी होती हैं क्योंकि उनके आश्रय के लिए कोई आधार नहीं है।

इस प्रकार की वस्तु कोई व्यावहारिक उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकती है। ऐसी वस्तुएं बिना किसी संदेह के नितान्त असत् होती है, किन्तु प्रत्येक असत् वस्तु इसी प्रकार से असत् नहीं होती है। उदाहरणार्थ भ्रम असत् है और हम सब लोग उसे असत् ही मानते हैं। किन्तु हम यह कभी नहीं कह सकते हैं कि वह निराधार है। रज्जुसर्प का मृगतृष्णा जैसे भ्रममूलक आभास कभी किसी के द्वारा निरास्पद नहीं जाने जाते है।

---

१. न चाऽन्यथैक विज्ञानैन सर्वविज्ञानं सम्पद्यते – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४.

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ४,४,१६ – ४,२,४.

भ्रममूलक वस्तु का वास्तविक अस्तित्व तो नहीं होता, किन्तु उसका आभास अवश्य होता है इसके अतिरिक्त भ्रम तब तक सत् प्रतीत होता रहता है जब तक यथार्थ ज्ञान द्वारा उसका बाध नहीं होता। यही बात स्वप्न तथा अन्य विभ्रमों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है उनका कभी कोई न कोई आधार होता है।

उनका वस्तुगत आधार चाहे कुछ हो, किन्तु इनके आत्मनिष्ठ आधार को नकारा नहीं जा सकता, कोई इच्छा, संस्कार या अनुभूति चाहे हमारे अचेतन मन मे ही छिपी हो उसके आधार रूप मे अवश्य होनी चाहिए। उनकी भिन्नता का कारण उनकी प्रतीति के अतिरिक्त उनका आधार भी हैं।

अत. हम कह सकते है कि असत् और भ्रम में शंकर ने जो अन्तर किया हैं। वह बिल्कुल ठीक है भ्रामक वस्तुए यद्यपि स्वयं सत् नही होती, किन्तु वे अपने आधार मे किसी सत् वस्तु की ओर सकेत करती है। वंध्यापुत्र की भांति नितान्त असत् वस्तुएं ऐसा कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करती।

भ्रांतिमान प्रतीतियों को शंकर ने प्रातिभासिक सत्ता नाम दिया है इसका अर्थ है सत्ता का आभास । यद्यपि ऐसी वस्तुओ का अस्तित्व एक सामान्य व्यक्ति भी सत्य नहीं मानता फिर भी उनका ज्ञान असत् नहीं कहा जा सकता। भ्रममूलक वस्तुओं की तरह भ्रांति प्रतीति की चेतना का बाध नही होता।[1]

उदाहरणार्थ शंकर कहते हैं कि सोकर उठा हुआ व्यक्ति स्वप्न में देखे हुए सर्प दंश या नदीं स्थान आदि कार्यो को असत् मानता है, किन्तु इसी कारण वह स्वप्न में हुई उनकी चेतना को असत् न मानता है।

---

१. अवाप्यमानत्वात् – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४

यही बात जाग्रत अवस्था की भ्रामक प्रतीतियों के विषय में भी कही जा सकती है। रज्जु को जान लेने पर रज्जु के सर्प का बाध हो जाता है किन्तु हमें जो सर्प की चेतना हुई थी वह असत् कही जा सकती, क्योंकि उसका कभी बाध नही होता है।

अतः प्रातिभासिक वस्तुओं की तरह प्रातिभासिक चेतना असत् नही होती। इसी प्रकार हमारी जाग्रत अवस्था की वस्तुएं भ्रममूलक प्रतीतियों से भिन्न है। जैसे भ्रममूलक प्रतीतियो का बाध होता है वैसे उनका बाध नही होता, स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था मे उनकी चेतना का अभाव नि.संदेह उनका बाध कहा जा सकता है किन्तु यह बाध बिल्कुल उस प्रकार का नहीं है जैसा स्वप्नावस्था के अनुभवो का जागने पर या भ्रममूलक आभास का उसके आधार में विद्यमान सत् वस्तु के ज्ञान से बाध होता है, जागने पर स्वप्न के विषय निःसंदेह विलीन हो जाते है।

किन्तु इतना ही नहीं होता है इन वस्तुओं के विलीन होने और जाग्रत अवस्था की वस्तुओं का उद्भव होने के साथ ही स्वप्न की वस्तुओं की असत्यता और जाग्रत की वस्तुओं की सत्यता की अनुभूति भी होती है। इसी प्रकार जब हमें जाग्रत अवस्था की भ्रामक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो भ्रामक वस्तु की असत्यता और उसके आधारभूत वस्तु की सत्यता की चेतना आवश्यक रूप से होती है।

किन्तु स्वप्न या सुषुप्ति में जाग्रत अवस्था की वस्तुओं का बाध इस प्रकार नहीं होता है । इस तथ्य का अस्वीकार नही किया जा सकता कि स्वप्न या सुषुप्ति में जाग्रत की वस्तुएं विलीन हो जाती है किन्तु इसका कोई प्रमाण नही है कि हम उन अवस्थाओं मे जाग्रत की वस्तुओ को असत् मानते है।

सुषुप्ति की अवस्था में न उनकी सत्यता की चेतना रहती है और न असत्यता की। स्वप्नावस्था मे निसंदेह स्वप्न के विषयों और उनकी सत्यता की चेतना रहती है किन्तु उस चेतना के साथ जाग्रत अवस्था की असत्यता की चेतना नहीं होती है। अतः जाग्रत अवस्था की सामान्य वस्तुओ का स्वप्न की वस्तुओं की तरह बाध नहीं होता।

शंकर के अनुसाार जिन वस्तुओ की अनुभूति हमें जाग्रत अवस्था में होती है उनका बाध किसी भी अवस्था में उस प्रकार नही होता (जैसे स्वप्नावस्था की वस्तुओं का बाध जागने पर हो जाता है) शकर इस ससार की वस्तुओ को इसीलिए असत् कहते है, क्योंकि स्वप्न या सुषुप्ति में उनका बाध हो जाता है। किन्तु गहराई से विचार करने पर यह विरोध नहीं रह जाता है।

जब शंकर स्वप्न या सुषुप्ति में जाग्रत की वस्तुओ का बाध कहते हैं तो उनका तात्पर्य केवल इतना होता है कि वे उन अवस्थाओं मे विलीन हो जाती हैं। जाग्रत की वस्तुएं स्वप्नादि में असत् नहीं प्रतीत होती। शंकर जब उनके बाध को अस्वीकार करते है तो वे बाध शब्द को दूसरे अर्थ में लेते है। यह तथ्य उनके 'एवं' शब्द के प्रयोग से निर्दिष्ट होता है। इस शब्द का प्रयोग उन्होने उस समय बडी सावधानी से किया है; जब वे जाग्रत अवस्था की वस्तुओं का स्वप्न में बाध अस्वीकार करते है।

इसमें कोइे संदेह नहीं कि कुछ बातों में हमारे सामान्य अनुभवों की वस्तुएं भ्रममूलक या स्वप्नावस्था की वस्तुओं से समानता रखती है। जैसे दोनो प्रकार की वस्तुए हमारी चेतना की विषय होती हैं परिवर्तनशील, नश्वर और सीमित होती है तथा नितान्त असत् वस्तुओं से भिन्न प्रकार की होती है, किन्तु

साथ ही उन दोनों प्रकार की वस्तुओं में भेद भी है।स्वप्न या भ्रम की वस्तुओ का अस्तित्व हमारे मन में ही सीमित होता है।

इसीलिए वे हमारे व्यक्तिगत या निजी अनुभव मात्र होते हैं। जाग्रत अवस्था की निंर्भ्रात वस्तुएं सभी के सामान्य अनुभव में आती है। इसलिए वे सही अर्थ में वस्तुगत प्रकृति की होती है, प्रथम प्रकार की वस्तुए हमारे व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती, उदाहरणार्थ मृगमरीचिका का जल न पीने के काम आता है और न नहाने के, किन्तु जाग्रत अवस्था की यथार्थ वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता हमारे दैनिक अनुभव का विषय है। इस तरह शंकर ने दोनो मे स्पष्ट भेद किया है।

भ्रांतिमूलक या स्वप्न की वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता कहते है। पहले प्रकार का अस्तित्व प्रतीतिमात्र है जबकि दूसरे प्रकार का व्यावहारिक है जो जल हमारी प्यास बुझाता है वह मृग तृष्णा के जल की तुलना मे अवश्य ही सत्य है।[1] इसीलिए हम एक को सत्य और दूसरे को असत् मानते है।[2] सामान्य व्यक्ति अपने अनुभव की वस्तुओं को असत्य नहीं मानता।

इन वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता इतनी अधिक है इनकी चेतना प्रभावकारी, स्थायी, और बारम्बार होने वाली है कि विचारशील व्यक्ति भी इनको असत्य मानने में कठिनाई का अनुभव करता है। फिर भी शंकर इन सबको निरपेक्ष सत् ब्रह्म से भिन्न करते है।

उनके अनुसार ब्रह्म कूटस्थ, स्वयंभू और स्वयं प्रकाश है। शंकर की दृष्टि में यही एकमात्र पारमार्थिक या परम सत्ता है।

---

१. मृगतृष्णिकाद्यपेक्षया ———सत्यं – शारीरिक भाष्य तैत्तिरीय २,६.

२. सच्च परमार्थोदकादि – देखिए शारीरिक भाष्य प्रश्न ४,५

जहाँ तक विश्व के व्यावहारिक अस्तित्व का प्रश्न है शंकर उसका विरोध नहीं करते है। व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहने मे उन्हे कोई सकोच नहीं है। किन्तु परमसत् या वास्तविक सत् की दृष्टि से वे **उसे निर्भीक 'भाव'** से असत् कहते है।

शंकर के अनुसार वस्तुओं को सत् या असत् मानना बुद्धि पर निर्भर करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शंकर वस्तुओं को मानसिक ही मानते हैं । क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ब्रह्म या परम् सत् का ज्ञान समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह व्यक्ति व्यापार तन्त्र न होकर वस्तु तन्त्र है वस्तुओं की सत्यता या असत्यता निसंदेह स्वय वस्तुओ के आश्रित है फिर भी उनको सत् या असत् कहने के पहले उनके स्वरूप की परीक्षा कर लेनी चाहिए।

यह परीक्षा हमारी सत्यता या असत्यता को बुद्धितन्त्र कह सकते है वस्तुतः इन्द्रियानुभविक वस्तुओ के स्वरूप की परीक्षा के परिणाम स्वरूप ही शंकर को उन्हें असत् और ब्रह्म को सत् या पारमार्थिक सत्ता कहना पड़ा।

प्रातिभासिक और व्यावहारिक अस्तित्व के बीच का भेद सामान्य विश्वास का विषय है। किन्तु साधारणत. व्यक्ति इससे परे जाकर नहीं विचार करते है। उनके लिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आने वाली वस्तुए ही सत् प्रतीत होती हैं। और पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व मे भेद किया जाता है।

शंकर के पूर्ववर्ती बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने भी अस्तित्व का इसी प्रकार वर्गीकरण किया था। शंकर की भ्रममूलक प्रतीति या प्रातिभासिक सत्ता को उन्होने अलोक संवृत्ति, व्यावहारिक सत्ता को लोक संवृत्ति और पारमार्थिक सत्ता को परमार्थ सत्व कहा है।

स्वयं शंकर नागार्जुन की भांति यह भेद करने में सामर्थ्य थे। वास्तव मे यह कहना भी कठिन है कि नागार्जुन ने यह भेद स्वयं स्वतत्र रूप से किया है। जहाँ तक प्रातिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता के भेद का प्रश्न है कहा जा सकता है कि सामान्य बुद्धि के व्यक्तियो ने इसे सदा ही स्वीकार किया है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओ के बीच का भेद नागार्जुन से बहुत पहले छान्दोग्य उपनिषद् के रचनाकाल में ही विद्यमान था।[1] जब यह उपनिषद् केवल मिट्टी को सत् कहता है और सभी विभिन्न रूपान्तरणो को 'वाक' से उत्पन्न 'नाममात्र मानता है, तो वह यह भी मानता है कि केवल ब्रह्म ही सत् है। जो सभी का अन्तिम कारण और यथार्थ सत् है। अन्य प्रत्येक वस्तु जो ब्रह्म पर आश्रित है केवल व्यावहारिक सत् है।

विश्व की अनिवर्चनीयता -

वास्तव में इन्द्रियानुभविक जगत् का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार का है। इसे न तो नितान्त असत् न नितान्त सत् और न केवल मानसिक रचना कहा जा सकता है। इसके स्परूप का यथार्थ निरूपण करने के लिए हमे इसे नितान्त सत् और नितान्त असत् से भेद करना होगा। इसके सीमित पराश्रित और परिवर्तनशील होने के कारण तथा इसके तार्किक और अनुभवमूलक स्वरूप का बाध हो जाता है। अतः इसे सत् मानना सम्भव नहीं है।

किन्तु इसके साथ ही इसकी वस्तुगत प्रतीति होती है। और इसमे स्थायित्व दिखाई देता है, इसीलिए यह प्रतिभासिक सत्ता मे भी भिन्न है। सत् और असत् शब्द एक दूसरे के विपरीत है।

---

१. एनइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स पृ० सं० ५०५.

अतः यह करना सम्भव नही है कि संसार सत् और असत् दोनो है। इसके विपरीत यह भी नही का जा सकता है कि जगत न सत् है औन न असत्। क्योंकि इसमे **तर्कशास्त्र के मध्यम परिहार** नियम का उल्लघन होगा।

अतः शंकर ने इस विश्व के लिए **अनिर्वचनीय** शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार यह नामरूपात्मक जगत् सत् रूप में या उससे भिन्न असत् रूप से अनिर्वचनीय हैं।[1] नामरूप वाली यह अनेकता व्याकृत और अव्याकृत दोनो है। इसे हम न अस्तित्ववान कहते है, और न अनस्तित्ववान।

यह अपनी परिर्वतनशीलता के लक्षण के साथ ब्रह्म पर आधारित हैं। यह नानात्वपूर्ण विश्व न तो सत् है क्योकि यह व्याघात का विषय है और न असत् है क्योंकि इसकी स्पष्ट प्रतीति को अस्वीकार नही किया जा सकता है। इसका न स्वतन्त्र अस्तित्व है और न ही यह अस्तित्वहीन है। यह अस्तित्व और अनस्तित्ववान दोनो भी नही है। क्योंकि ये दोनो व्याघाती पद हैं अत. यह अनिर्वचनीय है।

शंकर के अनुसार यद्यपि यह अनिर्वचनीय विश्व ब्रह्म पर आधारित माना जाता है किन्तु प्रत्यक्षत. यह अनिर्वचनीय माया की उत्पत्ति है।[2]

माया की अवधारणा :

संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के समान 'माया' शब्द भी अति प्राचीन है; अनेकों बार यह शब्द ऋग्वेद में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ हम यहाँ सबसे प्रसिद्ध मंत्र लेते है, जिसमें माया शब्द आया है।

१. नामरूपेतन्त्वान्यत्वाभ्याम् निर्वचनीये—शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र १,१,१५—२,१,१४.

२. तत्वोपदेश ५२, ५३.

इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते।[1]

इसका अर्थ यह है कि इन्द्र रहस्यमयी शक्ति के द्वारा अनेक रूप धारण करता है, इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स के अनुसार 'माया' शब्द का प्रयोग सुर और असुर दोनो के छलकपट के लिए किया गया है; उदाहरणार्थ यह कहा गया है कि असुरो की माया को जीतकर ही इन्द्र नें सोम को जीता,[2] या जादूगर माया का प्रयोग करता है या अशुभ प्रबृत्ति के लोग मायावी होते है।

इससे स्पष्ट है कि माया शब्द निश्चय ही अशुभ शक्तियो छलकपट के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के अन्य प्रयोगों के लिए ऋग्वेद के ५,२,९,६,६०,३: १,३,२,४ और ७, ४६ मंत्रों को देखा जा सकता है। माया द्वारा इन्द्र मायावी असुरों पर विजय प्राप्त करता है (१, ११, ७ और ५, ३६, ६) इस मंत्र मे माया शब्द का प्रयोग सुर एवं असुरो दोनो के लिए हुआ है।

हम देखते हैं कि माया का प्रयोग चाहे भले देवताओं के लिए हुआ हो या दुष्टों या दैत्यों के लिए किन्तु उसके स्वरूप में कोई अन्तर नही आता है, क्योंकि दोनों अर्थो में यह अति प्राकृत शक्ति के लिए आया है।

लगभग इसी अर्थ में माया शब्द अथर्ववेद मे प्रयोग किया गया है। जब यह कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा माया के कारण ही एक के पीछे एक आते है। द्यूत क्रीडा मे माया द्वारा ही भाग्य जागता है।[3] किन्तु केवल इसी अर्थ में माया शब्द का प्रयोग नही हुआ है।

---

१. एनइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में उद्धत ऋग्वेद ७,१०४,२४

२. वही १,३६,२.

३. इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलांसफी पृ० सं० ५१.

उदाहरणार्थ अथर्ववेद मे जब यह कहा गया है कि माया कि उत्पत्ति हुई थी तो निश्चय ही माया शब्द का प्रयोग माया के परिणाम कार्य के अर्थ में किया गया है यहाँ उसका प्रयोग रहस्यमयी शक्ति के लिए नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद मे भी कहा गया है कि मिट्टी के संघात को जान लेने पर मिट्टी की बनी सभी वस्तुए ज्ञात हो जाती हैं किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि घड़े को जान लेने से मिट्टी का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार शब्द माया जिसका मूल अर्थ एक रहस्यमयी सर्जक, ऊर्जा, शक्ति या संकल्प है। उसकी रचना के लिए प्रयुक्त हो सकता है।

इस शब्द की उत्पत्ति 'मा' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है 'मापना' इसलिए 'माया' का मापने की शक्ति या इस शक्ति से मापने योग्य या निश्चित की जाने वाली वस्तु हो सकता है; मापने या विभाजित करने की इस शक्ति के द्वारा ही कृष्ण सभी इन्द्रियानुभविक या व्यावहारिक रूप धारण करते है और सभी माया अर्थात् मापने योग्य ससीम वस्तुए अव्यक्त से हीन प्रकार की है।

माया शब्द कुछ उपनिषदों में भी पाया जाता है उदाहरणार्थ बृहदारण्यक उपनिषद् मे ऋग्वेद का यह मत्र शब्दश· उद्धत किया गया है। वेदों की तरह यहॉ भी सर्वप्रथम इसको उस शक्ति के रूप में माना गया है; जिसका आधार ईश्वर है। और जिसके द्वारा समस्त संसार की उत्पत्ति सम्भव है; किन्तु इसको माया की उत्पत्ति के अर्थ में भी लिया गया है क्योंकि यह कहा गया है कि इस माया के अवयवों द्वारा ही यह समस्त विश्व व्याप्त है।

इस कथन में माया द्वारा ही जीव ससार के बंधन में पड़ा है, हम माया का अर्थ जीव की अविद्या मान सकते है; क्योंकि उसी उपनिषद् में स्वीकार किया गया है कि जीव का बन्धन केवल अविद्या से ही टूट सकता है। ज्ञान

द्वारा अविद्या ही समाप्त होती है यदि इस ससार मे जीव का बन्धन अपने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से टूट सकता है, तो उस ज्ञान के अभाव को ही बन्धन का कारण मानना चाहिए। अत माया का अर्थ अविद्या भी हो सकता है।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति उन्ही को होती है जिनमे छल, छद्म और माया नही है, वहाँ 'माया' शब्द का प्रयोग न तो सर्जनात्मक शक्ति के रूप में हुआ है और न उस शक्ति द्वारा उत्पन्न वस्तुओ के अर्थ में। अधिकतर माया शब्द का प्रयोग अविद्या के ही अर्थ मे हुआ है। वस्तुत हमारी अविद्या अत्यधिक रहस्यमयी वस्तु है। सम्भवत वह ईश्वर की माया से कम रहस्यमयी नही है।

अतः यदि उन ऋषियों ने इस अविद्या के लिए माया शब्द का प्रयोग किया तो कुछ अविद्या के लिए माया शब्द का प्रयोग किया तो कुछ अनुचित नही है। माया शब्द भगवद्गीता मे भी उपलब्ध होता है। वहाँ इसका अधिक प्रयोग नही है। केवल चार श्लोको मे यह पॉच बार देखने को मिलता है।[1] एक स्थान पर कृष्ण ईश्वर भाव में बोलते हुए कहते हैं कि "मैं अविनाशी और अजन्मा होने पर भी तथा समस्त भूत–प्राणियो का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके योग माया से प्रकट होता हूँ।"[2]

दूसरे स्थान पर वे कहते है कि "यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरूष मेरे को ही निरन्तर

---

१. अजोऽपि सन्नब्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।। भगवद्गीता ४/६

२. देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपन्द्यते मायामेतां तरन्ति ते ।। भगवद्गीता ७/१४

भजते है वे इस माया का उल्लंधन कर जाते है माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए तथा मनुष्यो मे नीच और दूषित कर्म वाले मूढ लोग मुझे प्राप्त नहीं करते। माया दिव्य आध्यात्मिक सत्ता पर अवलम्बित है।

उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि यह रहस्यमयी शक्ति है जिसके द्वारा ईश्वर अनेक रूप धारण करता है, किन्तु अपने को अलिप्त रखता है फिर भी इस विषय मे संदेह हो सकता है कि ईश्वर अपनी माया द्वारा सभी लोगों का ज्ञान हर लेता है या माया से उत्पन्न सांसारिक वस्तुएं अपने आकर्षण से प्रलोभन मे डाल कर उसे भ्रमित कर देती है। इस संदेह का कोई सुदृढ आधार नही है।

क्योंकि कृष्ण ने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है। कि सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ग्रहण करता है किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका होने के कारण सब जीव मोहित हो रहे हैं।[1] किन्तु 'मायापद्धत' का अर्थ या तो माया के वस्तुगत कार्य का जीवों की अविद्या से लेना चाहिए।

भगवद्गीता मे माया शब्द तीन भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। ईश्वर को रहस्यमयी शक्ति इस शक्ति के सांसारिक कार्य और जीवो की अविद्या।

योगवशिष्ठ के शब्दों मे माया को प्रकृति भी कहते है।वह विश्व की स्पन्दनकारी और दैवी इच्छा है।[2]

---

१. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वंशो ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।। भगवद्गीता ५/१३.

२. योगवासिष्ठ ६/२.

ब्रह्म सबका स्वामी बताया गया है वह सभी शक्तियों से विभूषित है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से दूसरे स्थान पर ब्रह्म को माया और अविद्या से स्वतन्त्र बताया गया है। यहॉ सर्वप्रथम माया को निश्चित रूप से शिव या ब्रह्म की आश्चर्यजनक शक्ति माना गया है किन्तु जब ब्रह्म को माया से स्वतन्त्र कहा गया।

तब माया को ब्रह्म की शक्ति और उस शक्ति से उत्पन्न कार्य दोनो माना जाए, क्योंकि ब्रह्म की शक्ति के बिना प्रतीयमान संसार की रचना नहीं हो सकती, पहले के निषेध से दूसरे का भी निषेध हो जाता है, क्योकि बिना कारण कोई कार्य उत्पन्न नही हो सकता ।

इसके अतिरिक्त योग वशिष्ठ में माया शब्द का प्रयोग अविद्या के अर्थ मे भी हुआ है। उदाहरणार्थ जब यह कहा जाए कि मनुष्य का चित्त माया के चक्र की धुरी है और यदि वह रूक जाता है उसे कोई हिला नहीं सकता।[१] तो यहॉ माया शब्द का अर्थ न ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति हो सकता है और न उस शक्ति द्वारा सृजित यह संसार। व्यक्ति के चित्त में उठने वाली इच्छाओं आदि की गति से उसके आत्मगत संसार की रचना होती है।

अतः चित्त के स्थिर होने का यही परिणाम निकाला जा सकता है कि व्यक्ति के आत्मगत विश्व की समाप्ति हो जायेगी। सर्वशक्तिमान और सर्व–व्यापक ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति से उत्पन्न होने वाला वस्तुगत संसार इसके द्वारा समाप्त नही हो सकता है।

दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि यहाँ माया का अर्थ अविद्या है और उनका निर्माण करने वाला चित्त उसकी धुरी है।

---

१. चित्तं——————तत्र किंचित प्रवाध्यते। वही ५,४६,४०.

पुराणों में यह मत भी व्यक्त किया गया है कि जिस विश्व मे हम रहते है। उसके विषय में हमारी धारणा अविद्यात्मक या दोषपूर्ण है। और यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति का कार्य है, यह न तो स्वतन्त्र प्रकृति का विकसित रूप है।

इस प्रकार माया ही आत्मगत और वस्तुगत अनुभवों वाले समस्त जगत की रचना करती है। इसी प्रकार विष्णु पुराण एव लिंग पुराण मे समस्त द्वैत की प्रतीत को असत् बताया गया है, यह ससार उस आधारभूत सत् की असत् प्रतीति है जिसे अच्युत, विज्ञान, विष्णु आदि अनेक नामो से पुकारा गया है। इस द्वैत को माया कहते है, क्योंकि यह जो कुछ प्रतीत होता है कार्य है, इसे न नितान्त सत् कहा जा सकता है, और न नितान्त असत् है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माया की अवधारणा बहुत प्राचीन है शकर से पूर्व भी इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इसके महत्व के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हो सकता है किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कि इसका प्रयोग बहुत ही श्रुतियों में हुआ है।

शंकर इसका प्रयोग करने वाले दार्शनिक नही थे। इससे शंकर के उन आलोचकों के विचारों की असंगति सिद्ध हो जाती है, जो शास्त्रों के अधिकार को तो स्वीकार करते हैं किन्तु शंकर को मायावादी कहकर उनकी आलोचना करते हैं यदि व्यावहारिक जगत् की व्याख्या के लिए माया का प्रयोग करने के कारण शंकर को मायावादी कहा जा सकता है।[2]

---

१. शांकर भाष्य श्वेताश्वतर प्रस्तावना में उद्धतलिंगपुराण.

२. वही (स्वमायया स्वमात्मानं मोहपेद् द्वैतरूपया)

तो प्राचीन काल के उन ऋषियो और विद्वानों को भी मायावादी कहना चाहिए। जिन्होंने शास्त्रों की रचना की है।

प्रो० एस० एन० दास गुप्ता शकर के ऊपर लगाये गये आरोपों का औचित्य तभी सिद्ध किया। जब उन्हें शास्त्र विरोधी सिद्ध किया जा सके। किन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं है क्योकि उन्होने माया को लगभग उसी अर्थ मे प्रयोग किया है। जिस अर्थ मे वह शास्त्रो में मिलता है। वास्तव मे शकर विरोधी दार्शनिक के मत की अपेक्षा शकर का माया सम्बन्धी मत अनुपंथी शास्त्रों द्वारा वाछित माया के अर्थ मे अधिक निकट है।

थीबो के अनुसार मि० गफ का यह निश्चित मत है कि शंकर ने ही वास्तविक वेदान्त सिद्धन्त का प्रतिपादन किया है।[1]

ब्रह्मवाद और माया -

ऋग्वेद एवं अन्य प्राचीन शास्त्रों की तरह शंकर को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति मानते हैं। अपनी अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के द्वारा ही वह विश्व की रचना करता है।[2] और स्वयं उससे अप्रभावित रहता है।

शंकर कहते है कि इस शक्ति को अवश्य स्वीकार करना पडेगा, अन्यथा इसके बिना ईश्वर को सृष्टा नहीं माना जा सकता, क्योकि कार्य–शक्ति के

---

१. थीवोस इन्ट्रोडक्शन टु हिज ट्रान्सलेशन आफ दि वेदान्त सूत्र विद् दी कमेन्ट्री आफ शंकर आन देय पृ० सं० १७,१८ मि० गफ की फिलासफी आफ दी उपनिषद्म् भी देखिए पृ० सं० २८६

२. शांकर भाष्य गीता उपोद्धात् ।

बिना वह क्रियाशील ही न हो सकेगा। इस माया अथवा कारण शक्ति का आधार ईश्वर है। उसे अव्यक्त कहते है। परमेश्वर की इसी माया को शास्त्रों मे कभी–कभी आकाश या कभी–कभी अक्षर कहा गया हैं।[1] श्रुति और स्मृति मे जिसे प्रकृति कहा गया है वह यही माया है, और सर्वज्ञ ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले जो नामरूप है जिसे इस दृश्य जगत का बीज कहा गया है, और जिसे न सत् कह सकते हैं, और न असत् वह माया ही है।[2]

शंकर के अनुसार प्रकृति इस माया के अतिरिक्त और कुछ नही है वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण ससार का बीज है। वह समस्त इन्द्रियानुभविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इन्द्रियों की रचना करती है।उसी से सोलह कार्य और सात कार्य–कारण उत्पन्न होते हैं। इन तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है, और वही ससार की सब वस्तुओ की मूल स्रोत है। इसे अव्यक्त कहते हैं, क्योंकि इसका वर्णन न सत् कहकर किया जा सकता है और न असत् कहकर।

सांख्य की प्रकृति एक स्वतत्र तत्व है वह अपने आप में अपने द्वारा ही स्थित है वह उस पुरूष के समान ही सत् है जिसका उद्धेश्य पूरा करने के लिए उसका अस्तित्व है इसके विपरीत शंकर की माया वैदिक और उपनिषदीय साहित्य की माया की भांति दूसरे पर निर्भर रहने वाली मानी गयी है, यह ईश्वर पर पूर्णतया निर्भर और उससे अभिन्न रहने वाली है।

---

१. शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र १,४,३.

२. वही

इसलिए उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं। जिस प्रकार शक्ति शक्तिवान के कारण उससे अभिन्न होती हैं। वैसी ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उससे अभिन्न है।[1]

वास्तव में शंकर के ब्रह्मवाद मे जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु अभिन्नता से शंकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते है कि शकर के ब्रह्मवाद में किसी वस्तु का अस्तित्व है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर मे मतानुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक संकल्प शक्ति है जिसमें असीम कारण–कार्य शक्यता है शंकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयास किया है। इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण ईश्वर की माया हैं।

शंकर का विचार है कि यह विश्व नामरूपों द्वारा विभाजित है, इसमे अगणित कर्ता और भोक्ता हैं यहॉ जीवों को निश्चित कारण से निश्चित स्थान और समय पर अपने कर्मो का फल भोग प्राप्त होता है इसकी व्यवस्था मन के अचिन्त्यनीय है। ऐसे संसार की उत्पत्ति सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान के ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती।

यह विश्व अचेतन प्रधान अथवा परमाणुओ से भी उत्पन्न हो सकता हैं। यह न किसी जन्मने–मरने वाले व्यक्ति द्वारा रचा जा सकता है। इस प्रकार शंकर ने विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण किसी पुनरावर्ती तत्व को अस्वीकार करके इस बात पर बल दिया कि किसी ससीम तत्व से विश्व की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

---

१. सा शक्तिः ब्रह्म एवं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वात् शारीरिक भाष्य गीता १४,४

केवल सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर की अपनी रहस्यमयी माया से संसार की रचना कर सकता है।

शंकर के इस मत से उनके ऊपर लगाये गये आरोप निरस्त हो जाते हैं। उनके ब्रह्मवाद को **अहंमात्रवाद** या **आत्मनिष्ठवाद** कहना उनके दर्शन की गलत समझ या कुछ पूर्वाग्रहों के कारण है। कुछ आलोचक ससार को भ्रममात्र मानने का आरोप लगाते हैं।

शंकर के अनुसार ससार की कारण शक्ति केवल माया है। माया का आश्रय और आधार सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसमे संदेह नहीं कि ईश्वर ने कहीं–कही इन्द्रजाल वाली माया का भी उल्लेख किया है।[1] जिससे उसका तात्पर्य किसी अबुद्धिगम्य, रहस्यात्मक और मिथ्या वस्तु से है। किन्तु किसी ससीम व्यक्ति की ऐसी माया को वे विश्व की रचना करने वाली सर्वशक्तिमान ईश्वर की माया के समतुल्य नहीं मान सकते। किसी जादूगर की माया या किसी देवता की माया भी अनादि नहीं हो सकती, किन्तु विश्व की रचना करने वाली माया वैसी ही अनादि और अनन्त हैं।[2]

जैसा सर्वशक्तिमान ईश्वर जो उसे धारण करता है।[3] अत. शंकर की माया को एक साथ ही उसके परिणामों को मिथ्या मानते है। किन्तु इससे उसकी सत्तामीमांसीय स्थिति पर आघात नहीं लगता है।

---

१. शांकर भाष्य गीता १३, २६.

२. वही १३, १६.

३. यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्वं स्थावर जड्गमम् ।

४. क्षेत्र क्षेत्रज्ञसंयोगान्तद्विद्धि भरतर्षभ।। शांकर भाष्य गीता १३/२६

एक तो व्यावहारिक वस्तुओं की अथवा उसके कारण स्वरूप माया की असत्यता से शंकर का तात्पर्य यह नहीं कि वे नितान्त अस्तित्वहीन है; वरन् उनके अनुसार वे अनिर्वचनीय है, अर्थात् वे न तो ब्रह्म की तरह नितान्त सत् है, और न अस्तित्वहीन पदार्थो की तरह नितान्त असत्।

दूसरे विश्व की रचना करने वाली माया को धारण करने वाला कोई ससीम व्यक्ति नही हो सकता, क्योंकि वह व्यक्ति या उसका मन ससार के अन्य पदार्थो की तरह स्वयं ही माया की उत्पत्ति है जिसकी रचना माया द्वारा ही हुई है। वह माया का आधार कैसे हो सकता है, माया और उसके परिणामो की सत्तामीमांसीय स्थिति, वास्तव में कुछ भी हो सकती है। किन्तु वह मानसिक विकल्प की तरह कदापि नही हैं।

हामारी मानसिक अवस्थाए भले ही भ्रामक हों, किन्तु उनकी सत्ता माया की रचनाओं पर ही निर्भर करती है। उसमें जो भी प्रकाश या सत्ता है, उसका मूल आधार ब्रह्म है। तस्य आज्ञा सर्वमिदम् विभाति।

शंकर जब माया को मिथ्या कहते हैं तो उनका यह कहना कदापि नही होता कि माया केवल एक मानसिक अस्तित्व है वे माया को भ्रममात्र भी स्वीकार नही करते, उन्होने माया को सर्वव्यापी परमात्मा की शक्ति मानकर उसकी आत्मनिष्ठता अस्वीकार कर दी है, और ऐसा होने के कारण ही माया भ्रम ही नहीं मानी जा सकती है।

इसके अलावा शंकर ने व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं में भेद मानकर भी माया को प्रातिभासिक सत्ता से बाहर स्थान प्रदान किया है। हमने माया को ईश्वर की रचनात्मक इच्छाशक्ति अवश्य कहा है किन्तु इससे भी हमारे लिए उसकी वस्तुपरता पर कोई प्रभाव नहीं पडता है यद्यपि हमारी इच्छा

शक्ति हमारे मन का कार्य है; इसलिये वह हमारे लिए आत्मनिष्ठ है, किन्तु ईश्वर की रहस्यमयी इच्छा शक्ति के लिए यही बात सत्य नही कही जा सकती। पहले तो माया को ईश्वर की इच्छा शक्ति भाषा के अलंकारिक प्रयोग में ही कहा जाता है।

दूसरे ईश्वर की इच्छा शक्ति उसके मन का कार्य नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर के मन इन्द्रियॉ और शरीर कुछ भी नही हैं।[1] ऐसा माना जाता है कि ईश्वर का बोध और गति बिना इन्द्रियो के ही होती है। वह बिना आँखों के देखता हैं और बिना कानो के सुनता हैं।[2] उसकी सारी कार्यविधि वास्तव मे अज्ञात है, उसकी माया को हम इसलिए कहते है, कि वह एक बहुत बडी समस्या हैं, हमारे लिए एक रहस्य है यदि हम उस रहस्य को समझ लिया तो वह माया न रहेगी।

वह माया इसीलिए है कि हम उसे समझने का चाहे जितना प्रयत्न करें, वह हमारे प्रयत्नों को विफल कर देती है साथ ही हम माया को ईश्वर की प्रकृति भी कह सकते है। माया को ईश्वर के मन का कार्य मानें तो यह हानि है कि ईश्वर के मन को ईश्वर से भिन्न मानने पर अद्वैत की हानि होती है।

वेद उपनिषद और शंकर ईश्वर में जिस अद्वैत भाव को मानते है, उसमे भेद उत्पन्न हो जायेगा। अतः यदि इसे शक्ति मानना ही है तो उसे आत्मनिष्ठ की अपेक्षा वस्तुगत इच्छाशक्ति ही मानना चाहिए। हमारे लिए माया के सभी कार्य वस्तुगत रूप में ही है।

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् २,१६ और उस पर शारीरिक भाष्य.

२. ज्ञान विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।। शारीरिक भाष्य गीता ६/८

हम उन्हें मानसिक दशाओं के रूप मे कभी नही समझते। शकर की वाह्य वस्तुओं का बोध इन्द्रिय वस्तु सम्पर्क का ही परिणाम मानते है।[1] इस प्रकार वह ज्ञात वस्तुओं का ही परिणाम है। हमारे इन्द्रिय प्रदत्तो की वाह्यता शकर मे ब्रह्मवाद में उसी प्रकार सुरक्षित है जैसे किसी अन्य वस्तुगत विचारधारा में।

अतः माया को विश्व का मूल कारण मानने में विश्व की व्यावहारिक सत्ता पर कोई विपरीत प्रभाव नही पड़ता है। हम संसार का कारण चाहे परमाणु बतायें, चाहे प्रकृति या अन्य कोई वस्तु यह सब हमारी परिकल्पना पर ही निर्भर करता है हमें इनमे से किसी का प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता ।

जब तक हम अपने इस रूप मे वर्तमान है, तब तक सृष्टि के अन्तिम कारण का रहस्य जानना असभव प्रतीत होता है। इस प्रकार की बात कहने से आधुनिक मनुष्य को ठेस पहुॅच सकती है किन्तु <u>ऋग्वेद के नासदीयसूक्त</u> का दृष्टा ऋषि इससे सहमत प्रतीत होता है। उसमें कहा गया है कि यह रचना वहॉ से उत्पन्न हो गयी। इसकी रचना की गयी थी या नहीं, केवल वही जान सकता है। जो इसका शासन करने वाला ईश्वर है, सम्भव है, वह भी इसे न जानता हो।[2]

<u>ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं</u>।[3] ब्रह्म और आत्मा एक है, दोनों परमतत्व के पर्याय है, जगत्–प्रपंञ्च माया की प्रतीत है। जीव और जगत दोनों मायाकृत है।

---

१. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,२,२८,२६.

२. ऋग्वेद नासदीयसूक्त १०,१२,६,७ (इयं विसृष्टि———— न वेद)

३. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैव नापरः।

उदाहरणार्थ जिस प्रकार रज्जु भ्रम मे सर्प के रूप मे प्रतीत होती है, और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या या माया के कारण जीव जगत्– प्रपञ्च रूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपंञ्च का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्म स्वरूप का ज्ञान है।

शंकर के अनुसार माया सांख्य की प्रकृति के समान भौतिक और जड हैं किन्तु सांख्य की प्रकृति के विपरीत न तो सत् है और न स्वतन्त्र है। माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति हैं। यह ब्रह्म पर आश्रित है और उससे अप्रथक है इसे ब्रह्म से 'अन्यया' कहा जाता है।

वस्तुतः माया और ब्रह्म मे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। न भेद, न अभेद और न भेदाभेद, उनके इस प्रातीतिक सम्वन्ध को तादात्म्य नाम दिया गया है। माया अनादि है माया भावरूप है, किन्तु सत् नही है यह कहने के लिए माया केवल अभाव रूप नही है । इसे भाव रूप कहा गया है। माया अभावरूप भी है और भावरूप भी है।

इसका अभाव पक्ष **'आवरण'** कहलाता है, जो तत्व को आवृत कर देता है अर्थात पर्दा डाल देता है, जिससे तत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुत. माया न अभाव है और न भाव है माया सद्सद्निर्वचनीय या भावाभावविलक्षण है। माया सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न इसकी कोई सत्ता नही है, यह असत् भी नहीं है।

क्योंकि वह ब्रह्म पर जगत् प्रपंञ्च का आरोप करती है। यह सत् नहीं है क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से इसका बाध हो जाता हैं यह असत् भी नहीं है

क्योकि प्रतीति होती है, यह सत् और असत् दोनो भी नहीं है, क्योकि सत् और असत् प्रकाश और अंधकार के समान एक साथ नहीं रह सकते।

माया अभ्यास है। यह भ्रान्ति यह भ्रम है। यह किसी वस्तु (रज्जु या शुक्ति) पर किसी अन्य वस्तु (सर्प या रजत्) का अध्यास, आरोप या विक्षेप है, यह मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान है। जैसे रज्जु सर्प का या शुक्तिरजत् का ज्ञान। भ्रम अध्यास या विक्षेप है, जिससे किसी वस्तु पर किसी अन्य वस्तु का आरोप हो सके और उस वस्तु का मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान हो।

भ्रम अध्यास या मिथ्या ज्ञान है।[१] माया ज्ञान निरस्या है, अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान से इस का निरासबाध या निवृत्ति हो जाती है; जैसे रज्जु के ज्ञान से रज्जु सर्प की और ब्रह्म ज्ञान से जगत् प्रपंञ्च की।

माया विवर्त है। यह आभासमात्र है। रज्जु सर्प में भी सर्प के रूप मे परिवर्तित नही होती। ब्रह्म जगत्प्रपंञ्च के रूप में परिवर्तित नहीं होता केवल प्रतीति मात्र होती है। अतः माया की प्रतीतिक अर्थात् व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ता है। जगत् प्रपंञ्च की व्यावहारिक और रज्जुसर्प की प्रातिभासिक।

माया का आश्रय और विषय ब्रह्म ही है तथापि ब्रह्म माया से सर्वथा और सर्वदा अलिप्त हैं जिस प्रकार आकाशतलमलिनता से या रज्जुसर्प से अलिप्त है। अधिष्ठान कभी अध्यस्त पदार्थ से कलुषित नही होता।

इस प्रकार मिथ्या प्रतीति कराने वाली माया मूलाविद्या है, विराट समष्टि की भ्रांति है, जो समस्त विश्व की जननी है और संसार–चक्र चला रही हैं। हम सब जीव इसी में जन्म लेते हैं व्यवहार करते हैं और मरते है, तथा मरने के

१. डा० चन्द्रधर शर्मा पृ० सं० २४८,२४६.

बाद पुनः जन्म लेते है, अतः सत् आत्मा और असत् आत्मा का एक दूसरे पर आरोप एवं एक के धर्मो का दूसरे के धर्मो पर आरोप हमारे लिए स्वाभाविक है, क्योंकि हमारा समस्त लोक व्यवहार इसी अनादि मिथ्या ज्ञान पर, इस सत् और असत् के मिलन पर, इस सत्य और अनृत के मिथुनीकरण पर आश्रित है।

वह अहंकार और ममकार से ग्रस्त होकर स्वयं को कर्ता और भोक्ता समझता है, तथा जन्म-मरण चक्र में संसरण करता है, यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक तथा मिथ्या ज्ञान रूप अध्यास सारे अनर्थो का मूल कारण है। इसे नष्ट करने के लिए और अद्वैत आत्म तत्व का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए सारे वेदान्त शास्त्र प्रारम्भ होते हैं।[1]

असत् और सत् दोनों भिन्न प्रकार के पदार्थ है, अत. इनमे कोई वास्तविक सम्बन्ध नही हो सकता।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'सत्' वह है जिसका त्रिकाल में बाध नहीं हो सके (त्रिकालाऽवाध्यत्वं सत्वम्) अर्थात् जो कूटस्थ नित्य और सदा एकरस एवं अपरिणामी हो, इस अर्थ में ब्रह्म या आत्मा ही सत् है और वही परमार्थ है। असत् वह है जिसकी त्रिकाल मे कोई सत्ता न हो, और जिसमे कभी 'सत्' के रूप में प्रतीत होने का सामर्थ्य भी न हो इस अर्थ में बंन्ध्यापुत्र और खपुष्प आदि असत् है और इस प्रकार अखण्ड आनन्द स्वरूप आत्मतत्व की प्राप्ति जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

माया अविद्या और अध्यास -

शंकर ने माया को उसके मूल और रूढ़ अर्थो में स्वीकार करते हुए उसे मुख्य रूप से ईश्वर की शक्ति माना है, और उसे तदनुकूल ही विश्व की रचना

---

१. अस्यानर्थ हेतोःप्रहाणायअत्मैकत्वविद्याप्रतियन्तये सर्वे बेदान्ता आरभ्यन्ते। वही।

का प्रथम कारण माना है, किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि कहीं–कहीं उन्होंने विश्व को अविद्यात्मक, अविद्याकल्पित और अविद्या–प्रत्युयस्थापित भी कहा है।[1] अत यह प्रश्न अनुचित है क्या शंकर के लिए माया और अविद्या एक ही तत्व है, अथवा दो भिन्न तत्व है, इस पर विद्वानों के भिन्न–भिन्न प्रकार के उत्तर हैं। एक ओर थीवों यह मानते प्रतीत होते है, कि शंकर के दर्शन में माया और अविद्या शब्द एक दूसरे के स्थान मे प्रयुक्त हो सकते हैं।[2]

प्रकृतार्थ विवरण मे माया को अनादि, अनिर्वचनीय और सभी वस्तुओ का कारण माना गया है। यह माया एक अनन्त विश्व चेतना के साथ सम्बद्ध है, अविद्या इस विश्व माया की एक सीमित इकाई है।

पंचदशी में भी माया को ईश्वर की उपाधि माना गया है और अविद्या को ससीम जीव की उपाधि है।[3]

शंकर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने इन दोनो शब्दों का प्रयोग प्रायः समानार्थक रूप में किया है। कहीं–कहीं तो माया के कार्यो अथवा विश्व के पदार्थो को अविद्यात्मक या अविद्यारोपित आदि भी कहा है। किन्तु शंकर ने अविद्या को ईश्वर की उपाधि कहीं भी नही कहा है।

---

१. शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,१,१४.

२. देखिए थीवो का कथन " ब्रह्म एक ऐसी शक्ति के साथ सम्वन्धित हैं, जिसे माया या अविद्या कहा जा सकता हैं इस विश्व का आभास उसी शक्ति के कारण है"। (ब्रह्मसूत्र के अनुवाद की भूमिका पृ० स० २५)

३. पंचदशी १,१५,१७ स्वामी विद्यारण्य.

इसके विपरीत उन्होंने ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित आदि नामों से अवश्य अभिहित किया है। किन्तु माया और अविद्या को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है। जिन वाक्यों में शंकर ने माया शब्द का प्रयोग किया है, उनमे यदि माया के स्थान पर अविद्या शब्द रख दिया जाए तो सब अर्थ ही बदल जायेगा ईश्वर अथवा जगनियन्ता को अविद्या का विषय नही का जा सकता है। ईश्वर को अविद्या का विषय मानना आत्मव्याघाती होगा। विश्व की रचना और उसका पालन करने के लिए ईश्वर को अतिशय ज्ञान सम्पन्न होना चाहिए।

जो व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है, वह ज्ञान द्वारा ही करता है। अविद्या या भ्रम के द्वारा नहीं। जादूगर का जादू भी देखने वाले को ही भ्रमित करता है, स्वयं जादूगर को नहीं, उसकी उत्पत्ति भी जादूगर की अविद्या से नही होती है। शंकर के अनुसार जिस प्रकार जादूगर अपने द्वारा फैलाई गयी माया से कभी भ्रमित नहीं होता उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया से सदा असंस्पृष्ट रहता है।

अविद्याग्रसित व्यक्ति के विषय में सदा यह सिद्धान्त चरितार्थ नही होता है। यह कहना कि अविद्यावान व्यक्ति अपनी अविद्या से अप्रभावित है आत्मव्याघाती है। अतः शंकर की माया को न तो ईश्वर की अविद्या कहा जा सकता है और न जीव की ही, इसमें कोई संदेह नहीं कि शंकर ने माया शब्द का प्रयोग सांसारिक पदार्थो के लिए भी किया है यह मत शंकर द्वारा प्रतिपादित कार्य—कारण सम्बन्ध के अनुरूप है और साथ ही वेद—उपनिषदो मे माने गये माया के अर्थ के अनुकूल भी है।

शंकर ने केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही विश्व अथवा माया को असत् कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह संसार सत्य है। अतः केवल पारमार्थिक दृष्टि

से शंकर ने संसार को अविद्यात्मक कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत **ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति** माया का ही कार्य है। इस प्रकार से व्याख्या करने से शंकर के सिद्धान्त में प्रतीत होने वाली असंगति दूर हो जाती है।

माया को ईश्वर की शक्ति या उपाधि मानने से माया को ईश्वर से भिन्न तो मानना पड़ता है किन्तु उसे ईश्वर से अलग नहीं माना जा सकता है। ज्ञान या चेतना को ईश्वर से अलग नही माना जा सकता है।

अतः यदि ज्ञान या चेतना को ईश्वर का वास्तविक स्वरूप माना जाता है तो माया को उससे भिन्न अविद्या और उसके कार्यो को अविद्यात्मक मानने मे कोई हानि नहीं है। यदि माया और उसके कार्यो को क्रमशः अविद्या और अविद्यात्मक मानना है तो यह सत्तामीमांसीय अर्थ में ही माना जा सकेगा।[१]

शंकर ने व्यक्ति विशेष को अविद्या को उसके विश्व का कारण एक निश्चित अर्थ में माना है। शकर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक स्वरूप मे ब्रह्म ही है, किन्तु अपनी अनादि मनस् आदि में रखता है और अपने को एक सीमित व्यक्ति मानता हैं। वह अपने को कर्ता और भोक्ता मानकर शुभ और अशुभ कार्य करता है। जिनके परिणामस्वरूप उसे जन्म–मृत्यु, सुख–दुःख आदि सहन करना पड़ता है। इसी से वह सांसारिक बन्धन में पडता है।

इस प्रकार उसकी अविद्या अथवा अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान विश्व का कारण बनता है। अथवा विश्व मे उसके बन्धन का कारण बनता है। यह बन्धन तब तक रहता है जब तक वह अविद्या के कारण मनस् आदि

---

१. देखिए दीवानचन्द्र, शार्टस्टडीज इन उपनिषद् स पृ० सं० ३१,३२ और शारीरिक भाष्य ईश उपनिषद् ६ (विद्यायाः अन्यअविद्या)

उपाधियों से अपना तादात्म्य स्थापित रखता है। अविद्या को ज्ञानमीमासीय अर्थ में लेकर जगत् का कारण केवल इसी रूप मे माना जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि शंकर के दर्शन में माया का अर्थ अविद्या की उत्पत्ति कहते है, तब अविद्या शब्द को विद्या अथवा ज्ञान के अतिरिक्त किसी वस्तु के अर्थ में लिया है, या गलत ज्ञान के अर्थ मे लिया है, उसका अर्थ न तो ज्ञान का अभाव है, और न ही मिथ्यात्व। यदि माया को त्रुटिपूर्ण ज्ञान माना गया है, तो केवल इसी अर्थ में उसके कारण व्यक्ति संसार के बन्धन में पडता है।

जहाँ तक अविद्या का प्रश्न है, शंकर कि अनुयायियों में कोई मतभेद नहीं है, क्योंकि सभी ने ब्रह्म या व्यक्ति की आत्मा को ही इसका विषय माना है, किन्तु अविद्या के आश्रय के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद है।

इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मत मिलते है। कुछ विद्वानों ने माना है कि शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का विषय और आश्रय दोनो हैं अन्य विद्वानों के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म नही है वरन् जीव है।[1] वास्तव मे इन दोनो मे से कोई मत मानने में कठिनाई हो सकती है। शुद्ध चेतना और अज्ञान मे उसी प्रकार विरोध है जैसे प्रकाश और अंधकार मे। यह सोचना कठिन है कि प्रकाश और अंधकार एक साथ कैसे रह सकते है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसमें अन्योन्याश्रय का तर्कीय दोष है, एक ओर यह कहा जाता है कि अविद्या का आश्रय जीव परन्तु दूसरी जीव का जीवत्व स्वयं अविद्या के कारण है। अविद्या का आश्रय जीव कैसे हो सकता है? अविद्या के संसर्ग में आने से पूर्व जीव का अस्तित्व ही नहीं था।

---

१. ना ज्ञानं शुद्धचैतन्याश्रयं किन्तु जीवाश्रयं । वही पृ० सं० १२८

ब्रह्मैव जीवाश्रितयाविद्यया विषयीकृतं ।। वहीं पृ० सं० १, ५, ७८

इस मत के समर्थकों ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए बीज और पेड का उदाहरण दिया गया है। पेड का अस्तित्व बिना बीज के सम्भव नहीं है, और बीज की उत्पत्ति बिना पेड के नहीं हो सकती, फिर भी पेड और बीज दोनों का अस्तित्व है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि जीव और अविद्या अनादि काल से ही हैं।

जहाँ तक शंकर का प्रश्न है, उन्होने जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है। शंकर ने स्वयं इस प्रश्न को उठाया है शंकर के अनुसार अविद्या उसी व्यक्ति की है जिसमें वह प्रतीत होती है, अथवा जो उसे देखता है।[1]

शंकर के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है, **"मैं यह नही जानता" "मैं वह नहीं जानता"** । इत्यादि रूपों मे जीव अविद्या का अनुभव करता है, अविद्या का आश्रय जीव है। अध्यास के विवेचन से ही उन्होने ब्रह्म सूत्र पर अपना भाष्य प्रारम्भ किया हैं।

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो में अध्यास की परिभाषा भिन्न–भिन्न प्रकार से दी गयी हैं। उदाहरणार्थ न्याय–वैशेषिक दर्शन में अध्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि **'किसी वस्तु के गुणों को किसी अन्य वस्तु पर आरोपित करना अध्यास है**।'[2] मीमांसकों के अनुसार "अध्यास ऐसा दोष है, जिसके कारण एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोपण पहचान में नहीं आता है।

माध्यमिकों के अनुसार "किसी वस्तु में उसके गुणों के विपरीत अन्य गुणों का दिखाई देना अध्यास कहलाता है अर्थात् किसी वस्तु विशेष पर किसी अन्य वस्तु के गुणों को देखना अध्यास कहलाता है।"

---

१. देखिए शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र उपोद्धात् ।

२. वही

शंकर ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि **"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"** अर्थात् पहले देखी हुई किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु मे स्मृति रूप में आभास होना ही अध्यास है। **रत्नप्रभा** के लेखक श्री गोविन्दानन्द के शब्दों में अध्यास की इस परिभाषा में मुख्य बात है परत्र अवभास।[1] अध्यास का एक उदाहरण है; रज्जु में सर्प की भ्रान्त प्रतीति। सर्प वास्तव में वहॉ उपस्थित नहीं है। यद्यपि सर्प को पहले कभी अवश्य देखा होगा।

किन्तु अध्यास के समय वह हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क मे नहीं होता हैं। केवल संसार के रूप में सर्प का अस्तित्व हमारे मन में माना जा सकता है। हमारी नेत्र इन्द्रिय के सम्पर्क में तो रस्सी ही आती है। जो वहॉ प्रस्तुत होती है। दूसरे शब्दों में रज्जु पर सर्प आरोपित है। शंकर के अनुसार अध्यास एक ऐसा तथ्य है जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकतें।

यह अध्यास केवल भ्रामक प्रतीतियो में ही नहीं होता वरन् आत्मा और अनात्मा के मिथ्या तादात्म्य में भी देखा जाता हैं। इस प्रकार का अध्यास हमारे समस्त सांसारिक अनुभवों का एक अंग है। शंकर ने पहले प्रकार के अध्यास से इस अध्यास को अधिक महत्वपूर्ण समझा है। इस अध्यास को लेकर उन्होने ब्रह्मसूत्र पर अपना भाष्य प्रारम्भ किया है। इसी से उसकी महत्ता सिद्ध हो जाती हैं।

शंकर के अनुसार शरीर इन्द्रियॉ और मन आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि ये वस्तुएं उसी प्रकार ज्ञान के विषय हैं; जिस प्रकार कोई, वृक्ष मेंज या कुर्सी हो। हमारी आत्मा इन सबकी ज्ञाता है फिर भी क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो शरीर इन्द्रियाँ और मन को आत्म रूप न समझता हो और आत्मा को शरीरादि

---

१. अन्नपरत्रवभास इत्येव लक्षणं । रत्नप्रभा ११/१.

रूप में न समझता हो जब कोई व्यक्ति कहता है कि मैं मोटा हुं दुबला हुं, गोरा हुं, चलता हूँ, या कूदता हूँ तो वह अपने शरीर के धर्म आत्मा पर आरोपित करता हैं । जब वह कहता हैं कि मैं गूँगा हूँ, मैं बहरा हूँ, मै काना या अंन्धा हूँ, तो वह इन्द्रियो के धर्म अपनी आत्मा पर आरोपित करता है।

इसी प्रकार जब हम अपने को इच्छा, अभिप्राय, सन्देह या निश्चय का विषय कहता हैं तो वह अपनी आत्मा पर अपने अह को आरोपित करता हैं, इसके विपरीत वह अपनी अन्तरात्मा को अन्तःकरण और इद्रियो आदि पर आरोपित करता हैं।

इस प्रकार भ्रान्त प्रत्यक्ष के रूप में प्रतीति होने वाला यह अनादि और अनन्त अध्यास चला करता हैं यहीं अध्यास कर्त्ता और भोक्ता रूप में प्रतीत होने वाले जीवों का कारण हैं सभी लोग इसका अनुभव करते है।

शंकर के अनुसार इस अध्यास का नाश करना ही उपनिषदो का लक्ष्य हैं। इस प्रकार शंकर स्पष्ट करते हैं कि अनादि अविद्या का अस्तित्व उन्हीं लोगों के लिए हैं जो अज्ञानी हैं जिन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका हैं उनके लिए इसका कोई अस्तित्व नहीं हैं। ब्रह्म में इसका अस्तित्व सम्भव ही नहीं है इससे स्पष्ट हैं कि शंकर के अनुसार जीव ही अविद्या का आश्रय हैं।[1]

---

१. न तावदयं ——— अध्यस्यन्ति – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र उपोद्धात्

आत्म - साक्षात्कार (मोक्ष)

शंकर के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का सीधा साधन है।[1] ज्ञान का अर्थ आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करना है।[2] ब्रह्म का ज्ञान ही ऐसा साधन है जिसमे अमृतत्व प्राप्त हो सकता है। उनके विचार से ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होने का तथ्य इसके सभी समर्थको को मान्य है और यही सब शास्त्रो का सार है।

शंकर की रचनाओं मे ऐसे सैकडों पद या वाक्य मिलेंगे, जिसमें स्पष्टरूप से उल्लेख होगा कि आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान अथवा इन दोनो का एकत्व दर्शन मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। ब्रह्म और आत्मा की एकता का मुक्तदायी ज्ञान शकर के मतानुसार केवल मौखिक ज्ञान नहीं है। इस एकत्व का अव्यवहित अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है।

शंकर ने इन दोनो प्रकार के ज्ञान का भेद स्पष्ट रूप से समझा है इसीलिए वे कहते हैं कि ज्ञानियो मे से केवल थोडे लोग ही तत्व दर्शन कर पाते है। उनके विचार से कोई व्यक्ति ब्रह्म पर वही कुशलता पूर्वक व्याख्यान भले ही दे ले, उसमें ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अन्तर्दृष्टि का अभाव हो सकता है। इस प्रकार के ज्ञान से कोई लाभ नहीं हैं।

वास्तव में ब्रह्म या परमतत्व के अब्यवहित और संशयरहित दर्शन की आवश्यकता है, मौखिक ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है। वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब हृदय और बुद्धि के सभी दोष पूरी तरह से साफ हो

---

१. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। और उस पर शां० भा० तुलसी दास की विनय पत्रिका १६८ से तुलना कीजिए।

२. प्रौढानुभूति १०

जाए ।

इसलिए अपने वास्तविक स्वरूप के सच्चे और अव्यवहित ज्ञान के लिए हमें दृढता से नैतिक और आध्यात्मिक संयम करना पडेगा और लक्ष्य के अनुरूप सत्यनिष्ठा के साथ निरन्तर साधना करनी पडेगी। ज्ञान प्राप्ति के लिए इस प्रकार के जिस अभ्यास और साधना की आवश्यकता है। उसे इसका साधन कहते हैं ये साधन मोक्ष या आत्म–साक्षात्कार के गौण साधन कहलाते है।

शंकर के अनुसार ज्ञान के साधनो की यह विशेषता है कि इनके द्वारा ज्ञान निश्चय ही प्राप्त होता है।[1] इन साधनों को दो भागों मे बॉट सकते है। अन्तरंग साधनों का सम्बन्ध ज्ञान से सीधें और निकटस्थ । बहिरंग साधनों का सम्बन्ध जिज्ञासा से है साक्षात् ज्ञान से नहीं।[2] कर्म योग जिसमें त्यागपूर्वक कर्म किया जाता है और फलों की इच्छा नहीं की जाती है। बहिरंग साधन का उदाहरण है। मन या अन्तःकरण की शुद्धि के लिए बहिरंग साधन करने होते हैं। अन्तःकरण निर्मल होने पर उसमें आत्मज्ञान प्रकाशित होने लगता है। ज्ञान प्राप्ति की सफलता मन की शुद्धता पर आश्रित हैं। और मन की शुद्धता फलेच्छारहित कर्त्तव्य कर्मो के करने पर निर्भर है।

इस प्रकार कर्म ज्ञान प्राप्ति में (परोक्ष रूप से) सहायक होते है। इनसे ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। सीधे ज्ञान नहीं उत्पन्न होता । अत. कर्मो का ज्ञान का बहिरंग या दूरागत साधन कहा गया है। ज्ञान के अन्तरंग

१. न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते ।
तत्वस्वं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। गीता ४/३८.

२. विद्यास्वरूपसंयोगदन्तंरंगानि ।
वर्हिरगानि कर्माणि विविदिषा संयोगात्।। शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र ३,४,२७

साधन चार बताये गये है। इन्हे साधन चतुष्टय कहते हैं:–

(१) विवेक

(२) वैराग्य

(३) शमदमादि

(४) मुमुक्षत्व

नित्य और अनित्य का विचार विवेक कहलाता है। इसके द्वारा हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि **"मै स्वरूपतः नित्य हूँ"** और मेरे ज्ञान के विषय इसके विपरीत अनित्य है। दृष्ट और अदृष्ट भोग पदार्थो मे अनिच्छा होना ही वैराग्य है। विषयों में दोष दर्शन से यह वैराग्य उत्पन्न होता है। लोक या परलोक मे कर्मो के फल की अनिच्छा या त्याग ही वैराग्य है। वैराग्य का मुख्य तात्पर्य क्षणिक सुख देने वाली सभी ससीम वस्तुओं के प्रति घृणा भाव है। ब्रह्मा के सुखों जैसे सर्वोच्च सुख भी काक–विष्टा के समान निम्न और ज्ञेय समझना चाहिए।

दूसरे शब्दों में सांसारिक सुखों और वैभवों से वैराग्य या त्याग का तात्पर्य आत्म–साक्षात्कार जैसे दुष्कर कार्य में सफलता पाने के लिए अभिन्न भाव और एक निष्ठा से जुट जाना है। मन जब तक संसार की विभिन्न वस्तुओ से परांग मुख नही होता, इस पर पूर्णरूप से एकाग्र नहीं हो सकता।

ज्ञान के तीसरे साधन के अर्न्तगत वस्तुतः ६ साधन है, **शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि, और श्रद्धा**। शम का तात्पर्य अन्तःकरण का उपशम है। विषयों की तृष्णा के त्याग का निरन्तर प्रयत्न करना शम है जब तक अन्तःकरण चंचल रहता है कोई व्यक्ति अपने सच्चे स्वरूप को नहीं पहचान सकता है।

विषयों का मानसिक चिन्तन सब दोषो का जड हैं।[1] किन्तु मन के द्वारा विषयों का चिन्तन या विभिन्न विषयों की इच्छायें रोकनें के लिए इन्द्रियों का संयम भी आवश्यक है। वाह्य इन्द्रियों के इस सयम या नियत्रण को **दम** कहते हैं।[2] अतः सच्चे ज्ञान के उपासक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियो को उनके विषयों से अलग खींच लें। विषयों के साथ स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रियाँ मन को अपने साथ खींच ले जाती हैं।

इस प्रकार विषयाभिमुख पुरूष में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से अलग हो जाती हैं तो इसे **उपरति** कहते है। जो व्यक्ति विषयों की सब इच्छा से मुक्त हो जाता है उसे **उपरत पुरूष** कहते है। सभी कष्टों और दुःखों को बिना विलाप किये सह लेना '**तितिक्षा**' कहलाती है।

यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से दु.ख और पीडाओ को आमंत्रित नहीं करता है। फिर भी कोई व्यक्ति उनसे मुक्त नहीं है। यह संसार जिसमें हम निवास करते है इतना जटिल है और शरीर की रचना इतनी विचित्र है कि हम चाहे जितना सतर्क रहें और चाहे जितना अच्छा औपचारिक प्रबन्ध होता रहे, हम अपने को दु.खो और पीडाओं से मुक्त नहीं समझ सकते।

दुःखों के प्रति उपेक्षा या तटस्थ भाव बढ़ाने से ही मन की शान्ति सुरक्षित रह सकती है। आत्म साक्षात्कार के साधनों में तितिक्षा का यही महत्व है। सत् या ब्रह्म पर मन का केन्द्रित करना समाधि पर समाधान है तथा गुरू और शास्त्रों में आदर भाव के साथ विश्वास रखना **श्रद्धा** है।

---

१. अपरोक्षानुभूति ६.

२. नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । शां० भा०

न चा भावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। भगवद् गीता २,६६

प्रो० जेम्स के मतानुसार "अनुकरण और अनुसंधान की दो टागो से मनुष्य जाति इतिहास में आगे बढी है।" मानव सभ्यता की प्रगति और मानव ज्ञान का विकास इन दोनों पर आश्रित है। इन दोनो में कोई भी खण्डित होने पर मानव संस्कृति पंगु हो जायेगी। श्रद्धा मानव जीवन का एक यथार्थ तथ्य है और इसकी आवश्यकता भी है। शकर ने साधन के रूप में ही श्रद्धा को मूल्यवान माना हैं।

शंकर के अनुसार मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति मात्र है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से ही होता है। जैसे प्रकाश से अंधकार का, अज्ञान के निवृत्त होते ही मोक्ष यहीं और अभी हो जाता है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति का शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार विद्यमान रहता है।[1] परन्तु वह व्यक्ति संसार के बन्धनों से दूर रहता है, मोह उसे सताता नहीं, शोक उसे अभिभूत नहीं करता, सांसारिक विषय के लिए उसे तृष्णा नहीं होती। यह जीवितावस्था में ही मुक्ति हैं। वह व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। प्रारब्ध कर्मो के समाप्त होते ही उसका शरीर छूट जाता है।

भारतीय दर्शन में मोक्ष को ही परम पुरूषार्थ माना गया है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आस्तिकों में भी विवाद है किन्तु इसकी सत्ता के सम्बन्ध में नहीं। आस्तिक दर्शनों में मोक्ष के अनेकों नाम हैं। जैसे **कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति**। सभी का अर्थ एक ही है जन्म–मरण के बन्धन का विनाश जन्म ही दुःख का मूल हैः जन्म स्वय पुनर्जन्म का नितान्त अभाव ही दुःख का भी नितान्त अभाव है।

---

१. बौद्ध दर्शन और वेदान्त – डा० चन्द्रधर शर्मा पृ० सं० २१४.

दुःख के अभाव से ही मनुष्य सच्चे सुख और शाति का लाभ करता है। इसी कारण मोक्ष का परम लाभ कहा गया है जो जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो गया जिसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया अर्थात् उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं हैं।[1]

मोक्ष और उसका साधन (ज्ञान) अद्वैत वेदान्त में आत्म ज्ञान अर्थात् आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का लाभ मोक्ष माना गया है। इसका कारण ज्ञान है; अर्थात् मोक्ष ज्ञान साध्य है। ज्ञान अज्ञान निवृत्ति है। अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है।[2] जब अज्ञान का विनाश हो जाता है तो आत्मा अपने को पारमार्थिक, नित्य, कूटस्थ, आकाश के समान सर्वव्यापी सभी क्रियाओं से रहित नित्यतृप्त, निरवयव, धर्माधर्म से शून्य, शुद्ध ज्योति, स्वयं प्रकाश आदि रूप में अनुभव करने लगता है। यही आत्मा की निजी रूप में अवस्थिति है।

मोक्ष और उसका साधन (ज्ञान) अद्वैत वेदान्त में आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का लाभ ही मोक्ष माना गया है। इसका कारण ज्ञान है, अर्थात् मोक्ष ज्ञान साध्य है। ज्ञान अज्ञान निवृत्ति है। अज्ञान या अविद्या के कारण ही आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है तथा आत्मा में दुखी, कर्त्ता, भोक्ता आदि व्यवहार होता है। अज्ञान के कारण ही मैं शरीर हूँ, यह मेरे प्राण है, मै दुःखी हूँ, मै संसारी हूँ इत्यादि प्रत्ययों का अनुभव होता है। अविद्या रूप ग्रन्थि के नष्ट होने पर सभी कामनायें नष्ट हो जाती है।

---

१. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः । तै० उप० शांकर भाष्य १/११.

२. (क) आत्मनि एवाविद्यानिवृन्तिः । मु० उप० शांकर भाष्य

(ख) अविद्यापगमयानत्वात् ब्रह्मप्राप्ति फलस्य। बृह० उप० शा० भा० १/४/१०

और मर्त्य (मरणधर्म) जीव अमर हो जाता है। अर्थात् आत्मा सभी उपाधि से निवृत्त होने पर आकाश के समान अनन्त, अक्षय, अज, अमर, अमृत, अभय, अपूर्व, अनन्य, अद्वय और शान्त ब्रह्म मे एक रूप हो जाता है।

आचार्य शकर के अनुसार यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्द, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप ही है, तथापि अविद्या के कारण मै अज्ञानी हूँ, इस प्रकार का अनुभव जीव को होता है। ज्ञान प्रभाव से जीव को आत्म साक्षात्कार होता है; तथा अज्ञान और उसके कार्य के निवृत्ति हो जाने पर जीव शोक रहित हो जाता है। अत मोक्ष अज्ञान निवृत्ति रूप है तथा ज्ञान के अधीन है।

शंकर के अनुसार अविद्या कल्पित भेद का निराकरण ही आत्म ज्ञान का फल है।[1] तात्पर्य यह कि मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति मात्र आत्मज्ञान का फल है।[2] अविद्या की निवृत्ति केवल विद्या से ही सम्भव है। विद्या केवल ब्रह्मात्मैकत्व बुद्धि है। मै, मेरा आदि अविद्या हैं। मोक्ष का साधन ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

ज्ञान और कर्म दोनों मोक्ष के कारण कहे गये है। शकर मोक्ष को ज्ञान साध्य मानते है कर्म साध्य नहीं। शकर के अनुसार कर्म अनित्य फल का साधक है अतः इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। शंकर मे अनुसार उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थ ज्ञान मार्ग का ही प्रतिपादन करते हैं। कर्म और ज्ञान मे ऐकान्तिक विरोध वैसा ही है जैसा पर्वत और राई (सरसों) में। पूरब और पश्चिम जाने वाले मनुष्यो के मार्ग भिन्न–भिन्न है। अतः कर्मनिष्ठा भिन्न है।

---

१. अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति मात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्।

बृ० सू० शा० भा० १/१/४

२. मोक्षप्रतिबन्ध निवृत्तिमात्रेव आत्मज्ञानस्य फलम् ।

बृ० सू० शा० भा० १/२/४.

उदाहरणार्थ जीव कर्म से बन्धन मे है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है। अत· अज्ञान का पूर्णतया क्षय होने पर ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। धर्म की रस्सी से पुरूष ऊपर जाता है, और पाप रज्जु से अधोगति को प्राप्त होता है। परन्तु जो इन दोनो को ज्ञान रूपी खड्ग से काट देता है, वह देहाभिमान से रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है।[1]

शंकर का मोक्ष सिद्धान्त आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा है। मोक्ष तो आस्तिक दर्शनों की आधारशिला है। परन्तु शकर के समान मोक्ष की विवेचना करने वाला अन्य आस्तिक नहीं। मोक्ष शंकर के अनुसार आत्मा की निजी रूप में अवस्थिति हैं । आत्मा का निजी स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। यही आत्म ज्ञान मोक्ष है। अनात्मा ही अज्ञान का स्वरूप है। इसी कारण शंकर अज्ञान की निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं।

अज्ञान के आवरण के हटते ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। शंकर एकतत्ववादी है। शंकर के अनुसार एक ही तत्व आत्मा है। दूसरा तत्व केवल अज्ञान है। अज्ञान के विनाश से द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, और एक तत्व का यथार्थ स्वरूप जान लिया जाता है।

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। शंकर के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही है, जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[2]

---

१. धर्मरज्वा ब्रजेदूर्ध्व पापरज्वा ब्रजेदधः । श्वे० उप० भा० १/१ पृ० सं० ५५३
द्धय ज्ञानसिना छित्वा बिदेहः शान्तिमृच्छति ।। डा० वी० एन० सिह

२ ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डक उप० ३,२,६, (डा० सी० डी० शर्मा २६७)

इस श्रुति वाक्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक ही है, वस्तुतः जीव ब्रह्म 'होता' है, ब्रह्म ज्ञान मे कोई किया नहीं है, क्योकि जीव सदैव ब्रह्म है। बन्धन एवं मोक्ष दोनो अविद्याजन्य है। जब बन्धन वास्तविक नहीं तो मोक्ष वास्तविक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जीव का जीवत्व अविद्या के कारण है। बन्धन एवं मोक्ष दोनो व्यावहारिक है तथा परमार्थतः मिथ्या है। मोक्ष या ब्रह्म हेय और उपादेयरहित हैं; मोक्ष में न कुछ खोना है न पाना है,[1] मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान भी अविद्याजन्य हैं। मोक्ष किसी प्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, मोक्ष आत्म भाव है, जो सदा प्राप्त है।[2]

शंकराचार्य ने मोक्ष के तीन लक्षण बताये है।

(१) मोक्ष अविद्या–निवृत्ति है। (अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः)।

(२) मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार है। (ब्रह्मभावश्च मोक्षः)

(३) मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। (नित्यम्‌शरीरवं मोक्षाख्यम्)

शंकर के अनुसार अशरीर का अर्थ शरीर–रहित नहीं, अपितु शरीर सम्बन्ध रहित है। शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक सत् है कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य तृप्त है, निरवयव है, स्वयं ज्योतिस्वभाव है, यह धर्म औार अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मो रो तथा (सुख–दुःखरूपी) उनके कार्यो से अस्पष्ट है। यह कालत्रयातीत है। यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता हैं।

---

१. हेयोपादेपशून्य ब्रह्मात्मतावगमात् । वही

२. श्रुतयों मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । शा० भा० १/१/४.

(डा० सी० डी० शर्मा २६८)

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है, देहध्यास के कारण है, मिथ्या ज्ञान निमित्त है अतः अविद्या निवृत्ति होने पर देहाध्यास भी निवृत्त हो जाता है। मोक्ष न तो कर्म का फल है और न उपासना का फल है। मोक्ष नित्य आनन्द है और लौकिक (सासारिक) तथा पारलौकिक (स्वर्गिक) सुखो से भिन्न एव अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। लौकिक एव स्वर्गिक सुख कर्मजन्य है। वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं। तथा पुण्य समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते है।[1]

ब्रह्म ज्ञान केवल मोक्ष प्रतिबन्ध भूत अविद्या को निवृत्त करता हैं मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता, ब्रह्मज्ञान, अविद्या निवृत्ति और मोक्ष एक ही है। और एक साथ होते है उनमें कार्यान्तर नहीं होता ।[2]

मुमुक्षता या मुमुक्षत्व आत्म ज्ञान की एक और आवश्यक शर्त है यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन का कोई भी लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उसकी इच्छा पहले होनी चाहिये। इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। शंकर ने मुमुक्षता की परिभाषा करते हुए कहा है कि संसार बंधन से मुक्ति पाने की गहन और सुदृढ़ इच्छा ही मुमुक्षता है।

चूंकि शंकर के विचार से मुक्ति और ब्रह्म ज्ञान एक ही बात है अत. मुक्ति चाहने वाले साधक को अभी बताये गये साधन चतुष्टय का अभ्यास करके ब्रह्म ज्ञान की इच्छा करनी चाहिए। किन्तु इच्छा मात्र ही पर्याप्त नही है, ब्रह्म ज्ञान की इच्छा को इसके बताये गए साधनों से भली भांति पूरा करना चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने इसके लिए श्रवण, मनन,

---

१. यावत् सम्यात्मुषित्वा, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकविशन्ति।

२. नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरूपगम्सते । वही

निदिध्यासन, का उल्लेख किया है। यही शकर को मान्य है। श्रवण का तात्पर्य किसी गुरू और शास्त्र से अपने वास्तविक स्वरूप या ब्रह्म के बारे मे जानना और समझना है, मनन का अर्थ है, उसी पर तर्क–बुद्धि के द्वारा विचार करना, और जब इस प्रकार पूर्व ज्ञात और सुचिंतित तत्व पर घ्यान किया जाता है, तब उसे निदिध्यासन कहते है।

शंकर मे अनुसार इस प्रकिया का बार–बार पुनरावर्तक तब तक करते रहना चाहिए, जब तक आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट होकर मन सुदृढ न हो जाए।

आजकल मूल्यो का विभाजन कभी–कभी स्वार्थ, परार्थ और आदर्श के आधार पर किया जाता है। प्रथम प्रकार के मूल्य कर्ता के अपने हित मे है, दूसरे प्रकार के मूल्य अन्य लोगों के हित मे हैं। तीसरे प्रकार के मूल्य **सत्यं शिवं सुन्दरम** जैसी किसी आदर्श की प्राप्ति में निहित है।[1] नि:सदेह यह विभाजन निराधार और किसी सीमा तक भ्रामक भी है।

डा० सिन्हा ने स्वीकार किया कि "व्यक्ति और समाज के हित मे कोई मुख्य भेद नही है। जो मूल्य और वैयक्तिक शुभ के लिए भी उपयोगी है। वही सामाजिक शुभ के लिए भी हैं। इसी प्रकार स्वार्थवादी मूल्य भी आदर्शवादी मूल्यों से वस्तुतः अलग नहीं किये जा सकते है । यदि केवल आदर्श के लिए ही किसी आदर्श की उपासना की जाए, तो वह आदर्श व्यक्ति का भी आदर्श बन जाता है।

अतः उसका प्रभाव व्यक्ति विशेष के गुणों और हितों पर भी पड़ता है फिर भी इसे अस्वीकार नही किया जा सकता, कुछ मूल्य मुख्य रूप से

---

१. जे० एन० सिंन्हा ऐथिक्स पृ० सं० १६७

वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं और दूसरो का सम्बन्ध उसके सामाजिक जीवन से होता है। उदाहरणार्थ प्लेटो के चार मुख्यगुण **साहस, मिताचार, ज्ञान और न्याय** में से मिताचार मुख्यरूप से वैयक्तिक जीवन का गुण है, न्याय सामाजिक जीवन का गुण है, आत्म साक्षात्कार के जिन साधनो पर शंकर नें इतना बल दिया है, उन्हें स्वार्थपरक या आदर्शपरक मूल्य समझना चाहिए।

प्रो० मित्रा के शब्दों मे हिन्दुओ की विषयनिष्ठ नैतिकता या मनोवैज्ञानिक नैतिकता कहना चाहिए।[1] वैयक्तिक शुभ और समाजिक शुभ के बीच भेद तो किया जा सकता है, किन्तु उसका विभाजन नहीं हों सकता हैं जैसे व्यक्ति का शुभ समाज के शुभ पर आश्रित है, वैसे ही समाज का शुभ व्यक्ति के शुभ पर आश्रित है। वैयक्तिक सदस्यों के बिना समाज अपकर्षण मात्र है।

इसी प्रकार व्यक्ति के शुभ के बिना समाज का शुभ कोई अर्थ नहीं रखता। जो व्यक्ति अपने लिए भला है वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज के लिए भला है। इसी प्रकार जिसका हृदय या मन कलुषित है वह निश्चय ही समाज का एक बुरा सदस्य होगा। सद्गुण चाहे स्वार्थ–परक हो या परार्थ–परक, सद्गुण–सद्गुण है।

शंकर के बताये हुए आत्म साक्षात्कार के साधन भले ही मुख्य रूप से वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु उसकी गणना सद्गुणो मे ही की जा सकती है। शंकर भारत के अन्य परम्परागत दार्शनिकों की तरह साधारण और वर्णाश्रम धर्म के अर्न्तगत आने वाले कर्मो को भी मूल्य प्रदान करते है।

---

१. दि एथिक्स आफ दि हिन्दूज पृ० स० ४

साधारण धर्मो का पालन करना मनुष्य का सामान्य कर्तव्य है। इन कर्तव्य कर्मो को सभी लोग वैयक्तिक क्षमता, सामाजिक स्थिति, जांति–पांति या राष्ट्रीयता का भेद भाव किये बिना करते है।

इस प्रकार के मुख्य सद्गुणों मे सत्य, अस्तेय, अक्रोध, क्षमा, धैर्य, शोच, धी, विद्या, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि हैं। वर्णाश्रम या विशेष धर्म व्यक्ति के सामाजिक स्तर और स्थिति के अनुकूल होते है। ये साधारण और विशेष दोनो प्रकार के धर्म मुख्य रूप से सामाजिक है।

प्रो० मित्रा ने कहा है कि वे हिन्दुओं की परार्थ परक नैतिकता के अर्न्तगत आते है। इस नैतिकता मे वाह्य कर्मो के नियम सम्मिलित है। और उन्हें अन्य लोगों का अनुमोदन प्राप्त होता है। कोई मनुष्य आत्म–साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करें किन्तु उसे साधारण और विशेष धर्मो का पालन अवश्य करना होगा।[1]

शंकर के अनुसार इसका उल्लंघन करने वाला व्यक्ति साक्षात्कार के परमानन्द की तो बात ही क्या इस लौकिक और पारलौकिक नश्वर सुखों को भी न पा सकेगा। शंकर के कठोपनिषद् के इस विचार को स्वीकार करते हैं कि जिस व्यक्ति ने दुष्कर्मो का करना और उनके विषय में विचार करना नहीं छोडा है और जिनका मन पूर्णतः शुद्ध और शान्त नहीं हुआ है वह ज्ञान के द्वारा अपना वास्तविक स्वरूप नहीं पहचान सकता है। आत्म–साक्षात्कार के लिए चित्त शुद्धि का उतना ही महत्व है जितना ज्ञान का स्वयं है।[2]

---

१. कठोपनिषद् १,२,२३ और उस पर शांकर भाष्य

२. शारीरिक भाष्य गीता ४८, ५१, ६, – २६, १८, २३

शंकर के मतानुसार चित्त तभी शुद्ध हो सकता है जब कर्त्तव्यों का पालन उन्ही के लिए या भगवान के लिए किया जाए।

प्रश्न उठता है कि क्या आत्म ज्ञान या ब्रह्म–जिज्ञासा सम्भव नही है। शंकर के अनुसार व्यक्ति का सर्वोच्च शुभ ब्रह्मत्व प्राप्त करने मे निहित है और ब्रह्म साक्षात्कार तथा अपने सत् स्वरूप की अनुभूति एक ही बात है किन्तु इसके विरोध मे कोई कह सकता है कि ब्रह्म जिज्ञासा ही सम्भव नही है। ब्रह्म सर्वव्यापी होने के कारण उसके प्राप्त करने का प्रश्न ही नही उठता है। शकर ने इन दोनो रूपों मे प्रश्न उठाया है।

शकर के अनुसार ब्रह्म या तो ज्ञात है या अज्ञात है, यदि ब्रह्म पहले से ज्ञात है तो वह जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता है, और यदि अज्ञात है तो उसकी जिज्ञासा हो ही नहीं सकती है।[1] यदि ब्रह्म पूर्णत ज्ञात या पूर्णतः अज्ञात होता तो निश्चय ही उसकी जिज्ञासा का प्रश्न न रहता। शंकर के अनुसार साधक को ब्रह्म न पूर्णत. ज्ञात होता है और न पूर्णतः अज्ञात।

शंकर के अनुसार ब्रह्म सभी की आत्मा है। इसीलिए उसे पूर्णतः अज्ञात नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि वह है और कोई यह नही समझता कि वह नहीं है। इसके अतिरिक्त शंकर यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म के अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञान वेदों और दूसरे शास्त्रों से प्राप्त होता है। उसमें ब्रह्म को पूर्णतः शुद्ध, निर्विकार और ज्ञान तथा शक्ति से समन्वित कहा गया है। ब्रह्म बिल्कुल अज्ञात है किन्तु ब्रह्म के इस ज्ञान का निश्चय और संशय रहित अनुभव नही का जा सकता।

---

१ शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र १, १, १

आत्मा के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध मे अनेक विपरीत प्रकार के विचार मिलते हैं। लोकायतों का मत है कि बुद्धि–गुण युक्त शरीर ही आत्मा है। दूसरे लोग कहते है कि इन्द्रियाँ और बुद्धि ही समन्वित रूप में आत्मा हैं । अन्य लोग अन्तःकरण को आत्मा मानते है। कुछ अन्य लोग इसे शून्य समझते है। वेदो को प्रमाण स्वीकार करने वाले लोगो मे से कुछ लोग आत्मा को समझते है। वह कर्मो का कर्ता और उसके फल का भोक्ता है।

अन्य लोगो ने आत्मा को केवल भोक्ता माना है कर्ता नहीं। कुछ लोग ईश्वर को आत्मा और भोक्ता मानते हैं।[1] शंकर के अनुसार आत्म साक्षात्कार या ब्रह्म ज्ञान की आकांक्षा करना उचित है, उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं दिखाई देती है।

आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म प्राप्ति की आकांक्षा, शंकर के अनुसार उसके विभु होने के कारण भी असम्भव नहीं कही जा सकती, **यद्यपि ब्रह्म विभु** है और वही सब लोगों का अपना यथार्थ स्वरूप है, फिर किसी कारण से हमें उसकी वास्तविक प्रतीति नही होती। ब्रह्म की प्राप्ति व्यक्ति दृष्टि (दर्शन) पर अवलम्बित है और उसकी अप्राप्ति उसके दर्शन के कारण है। अतः इसके सामान्य अदर्शन के कारण इसकी सर्वव्यापी प्रकृति दर्शन की आकांक्षा में बाधक नही हो सकती।

ब्रह्मवाद और नैतिकता -

शंकर ने सामान्य और वर्णाश्रम धर्म के पालन पर विशेष बल दिया है अतः उनके ब्रह्मवाद को अनैतिक कहना सम्भव नहीं प्रतीत होता । फिर भी उस पर अनैतिकता का आरोप लगाया गया है।

---

१. इण्डियन फिलासफी खण्ड २ पृ० सं० ६२१

डा० राधाकृष्णन ने १६१६ में मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैगजीन मे प्रकाशित **डा० हौंग** के निबन्ध अद्वैत एण्ड एथिक्स का उल्लेख किया है। डा० हौंग का ब्रह्मवाद पर आरोप है कि यह व्यक्ति और परमसत्ता मे तत्वमीमांसीय तादात्म्य होने के कारण इसमें नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है।

क्योंकि सब कुछ ब्रह्म होने के कारण नैतिकता के पालन की कोई आवश्यकता प्रतीति नहीं होती।[1] दूसरे "यदि केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है और नानात्वपूर्ण ससार छायामात्र, है तो शुभ–अशुभ में कोई वास्तविक भेद नही किया जा सकता है"।

यदि संसार भ्रम है तो पाप भी भ्रम ही है, फिर भला मनुष्य पाप क्यो न करे, और अपराध से क्यो न रखें उससे बचनें की क्या आवश्यकता है।

प्रो० हयूम के अनुसार तत्व मीमासीय ज्ञान–ज्ञानी पुरूष को निर्लज्जतापूर्वक जघन्य पाप करने की भी स्वीकृति दे देता है, यद्यपि इस प्रकार के पाप अज्ञानी पुरूष को घातक परिणाम प्रदान करने वाले होते है। पारमार्थिक दृष्टि से मनुष्य निःसंदेह ब्रह्म से तादात्म्य रखता है, किन्तु यह तादात्म्य उसके अनुभव में नहीं आता है। यद्यपि मनुष्य वस्तुतः अनन्त है और इसलिए ही वह जाने–अनजाने अपनी अनन्तता की खोज करता है किन्तु वह अपने को ससीम ही समझता है।

मनुष्य की ससीमता के तथ्य को शंकर ने इतनी अच्छी तरह से स्वीकार किया हैं कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए उसकी प्रस्तावना में ही उसका उल्लेंख किया है। शंकर ने यह नहीं कहा कि अनुभव परक या ससीम ही असीम ब्रह्म है। इसके विपरीत उन्होंने तो स्पष्ट रूप से जीव या वैयक्तिक

---

१. दर्शना दर्शनापेक्षत्वादब्रह्मण् आप्तनाप्त्योः – शा० भा० तै० उप० २,१

स्व को निरपेक्ष ब्रह्म से भिन्न बताया है।[1] जब तक मनुष्य अपने का ससीम समझता है तब तक ससीमता के सारे दोष उसे दुर्भाग्य से भोगने पड़ेंगे।

शंकर के अनुसार जब तक मनुष्य पूर्णत· संयमित और नैतिक जीवन न व्यतीत करे, वह ब्रह्म से तादात्म्य भाव का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी नही हो सकता।

डा० राधाकृष्णन के अनुसार मनुष्य का ब्रह्म से तत्वमीमासीय तादात्म्य व्यावहारिक स्तर पर नैतिक भेद करने में किसी प्रकार बाधक नही होता। व्यावहारिक दृष्टि से पाप और पुण्य, गुण और दोष उतने ही यथार्थ है जितनी कोई अन्य वस्तु।

प्रो० मैक्समूलर के अनुसार वेदान्त दर्शन मनुष्य को उपयोगी बनाने के लिये व्यापक क्षेत्र प्रदान करता है। और इस नश्वर जीव में उसे सुदृढ नियमो मे बांधे रखता है।

उपनिषदों के ऋषियों की भाति शकर भी ससार को सत् नहीं मानते। दृश्य जगत् न तो बंन्ध्यापुत्र की तरह अलीक है और न स्वप्न जगत् या भ्रम की तरह व्यक्तिगत मानसिक रचना है, बल्कि इनसे भिन्न प्रकार का है, इस दृश्य जगत् में शुभ और अशुभ उतने ही वास्तविक हैं, जितनी कोई और वस्तु। शंकर ने मनुष्य के नैतिक आचरण के शुभ और पापों के अशुभ परिणाम पर कभी संदेह नही किया है। व्यावहारिक दृष्टि से उनके लिए गुण और दोष सभी सत्य हैं। जो व्यक्ति अशुभ कर्म और विचार नहीं त्याग सकता, वह ब्रह्म ज्ञान पाने का अधिकारी नही हो सकता है।

---

१. जीवादधिकं ब्रह्म – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २, १, २२.

ब्रह्म की ओर जाने वाला मार्ग (केवल) सत्य से निर्मित है। यद्यपि ब्रह्म ही सबका अन्तिम स्रोत आधार और आश्रय है। आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान उसी को प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि बहुत सूक्ष्म हैं। तथा मन एवं हृदय बहुत ही निर्मल है, गणित और विज्ञान के सत्य भी सभी लोगो को समान रूप से समझ में नहीं आते है।

जब कोई सत्य सही रूप में समझ में नहीं आता है, तो निःसंदेह उसके ढग से प्रयोग किये जाने की सम्भावना रहती हैं। **'अल्प विद्या भयंकरी'** की उक्ति प्रसिद्ध है। ब्रह्मज्ञान का दुरूपयोग तभी हो सकता है जब वह सही ज्ञान न हो। विज्ञान तो कुत्सित और अनपेक्षित उद्देश्य के लिए तभी प्रयुक्त किया जा सकता है, जब उसका सही ज्ञान प्राप्त हो, ज्ञान अपने वास्तविक स्वरूप मे बहुत मूल्यवान है, इस तथ्य पर कोई दो मत नहीं हो सकतें है।

भ्रष्ट लोगों के हाथ में पडकर वह दूषित हो जाता है किन्तु ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान भ्रष्ट लोगो के हाथ मे कभी नही पड सकता उदाहरणार्थ जो व्यक्ति सब वस्तुओं को अपनी आत्मा में और सब वस्तुओं में अपनी आत्मा को देखता है; वह किसी से दुर्भावना कैसे रख सकता है।[1]

प्रो० मैक्समूलर के अनुसार "जिनका मन वेदान्त दर्शन जैसी दिव्य बातों मे निमग्न हैं, वे ससार के जन–धन जैसे साधारण प्रलोभनों के शिकार नहीं हो सकते है"।[2] सच्चा ब्रह्मज्ञानी दूषित और निषिद्ध कर्मो में प्रवृत्त नही हो सकता । उसके लिए कोई कर्तव्य न रह जाने का यह अर्थ नहीं कि उसे मनमानी करने की छूट मिल जाती है।

---

१. केन उपनिषद् २,२३ और उस पर शारीरिक भाष्य प्रश्नोपनिषद् १,२.

२. न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनः – शारीरिक भाष्य ब्रह्मसूत्र २,३,४८.

वस्तुत झूठे अहकार के कारण मनुष्य अशुभ कर्मो मे प्रवृत्त होता है, पूर्ण ज्ञानी मे ऐसा कोई अहंकार नहीं रह जाता। अत उसके द्वारा मनमानी करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

ब्रह्म का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति की दृष्टि मे दृश्य जगत् ओझल नहीं हो जाता है। वह उसे देखता है, किन्तु उसका दृष्टिकोण बदल जाता है, इसकी झिलमिलाती हुई चमक और इसके क्षणिक सुख उसे भ्रम मे डालकर आकर्षित नहीं कर सकते हैं।

अत स्पष्ट है कि उसके पास पूर्ण सुख की वह राशि उपलब्ध है। जिसमें कभी कमी नहीं आती हैं उसकी स्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति मृगमरीचिका का रहस्य जान लेने पर उसके जल से अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न नहीं करता, भले ही वह उसकी आंखों मे पहले जैसी दिखाई देती रहे। वह किसी पद या शक्ति की इच्छा नहीं रखता। ब्रह्मज्ञानी जीवन के किसी भी स्तर पर नैतिक नियमों के दुरूपयोग का दोषी नहीं हो सकता हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदो की तरह शकर भी पूर्ण ज्ञानी के लिए कुछ कर्म करना आवश्यक नहीं मानते हैं। और उसे सब पापों से मुक्त बताते हैं। अर्थात् जीवन का सर्वोच्च आदर्श प्राप्त कर लेने पर इस लोक या परलोक में ऐसी कोई वस्तु नही रह जाती है जिसे प्राप्त करने की इच्छा उसके मन में उठ सके, वह जो कुछ करता हैं वह पूर्णतः अनासक्त भाव सें होता है वह कुछ भी अनैतिक कार्य नहीं करता।

क्योंकि उसमें अनैतिक कार्य करने की प्रवृत्ति ही नहीं रहती है, वह शक्ति, पद, सम्पत्ति या संतान जैसी किसी व्यक्तिगत लाभ की इच्छा नहीं रखता है।

सुकरात का यह कथन **"सद्गुण ही ज्ञान है"**। वह अपने सारे जीवन में सदाचारी रहता है।[1]

शकर के नीतिशास्त्र की सबसे बडी विशेषता उसकी सर्वागीणता है, यद्यपि इसे तर्कबुद्धिवाद, सुखवाद, पूर्णतावाद, या मूल्य सिद्धान्त जैसी किसी आधुनिक नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता।

काण्ट के अनुसार **'सद्संकल्प'** ही ऐसी मणि है, जो अपने ही प्रकाश से चमकती है। अतः नैतिकता के लिए वह **"कर्तव्य को कर्तव्य के लिए"** ही निर्धारित करते है, हमारे विचार से शकर भी नैतिक सिद्धान्त के रूप में **'कर्तव्य को कर्तव्य के लिए'** मानते है।

वे गीता के अनासक्त योग मे पूर्णतः विश्वास रखते है। इसका आशय यह है कि लोग बिना किसी आसक्ति के अपना कर्तव्य कर्म करें। इस सिद्धान्त के अनुसार हमें अपने कर्मो के फल की ओर नहीं देखना है। हमे केवल उनको अपना कर्तव्य समझकर करते रहना हैं।[2]

काण्ट और शंकर के विचार साम्य से उसका कोई प्रयोजन नहीं जहाँ तक अनासक्त भाव से कर्म करने का प्रश्न है। शंकर एवं काण्ट दोनों स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार से किये गयें कार्य कर्मो का अन्तिम परिणाम शुभ होता है। दोनों की दृष्टि में ससार की रचना इस प्रकार की है कि शुभ और अशुभ कर्मो का फल पुरस्कार और दण्ड देर–सबेर अवश्य प्राप्त होता है, उन कर्मो को जाने अनजाने किसी प्रकार किया गया हो कोई अन्तर नहीं पडता।

---

१. देखिए ए मैनुअल आंफ एथिक्स पृ० सं० १५४

२. शारीरिक भाष्य भगवद्गीता ६,४.

दोनो ही विचारको की दृष्टि में ईश्वर मनुष्य के कर्मो के अनुसार फल देने की व्यवस्था करता है। शरीर छूटने के पहले यदि उन कर्मो का फल इरा जीवन में नही प्राप्त होता, तो अगले जीवन में अवश्य मिलेगा। इसके अलावा जीव की स्वतन्त्रता और आत्मा की अमरता नैतिकता की मूल मान्यता के रूप में दोनों को ही मान्य है।

निःसंदेह शंकर के विपरीत काण्ट ने आत्मा ही अनादिता स्वीकार नहीं की। अपने जीवन का सर्वोच्च आदर्श आत्म साक्षात्कार मानकर शकर ने अपने व्यक्तित्व मे मानवता को साध्य बनाया है, और दूसरे लोगो के सुख–दु.ख को अपने जैसा मानकर उन्होंने दूसरों की मानवता को भी साध्य माना है।[1] वस्तुत किसी व्यक्ति का आत्म साक्षात्कार अथवा उसकी आत्मा की पूर्णता किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं है। इसके लिए उसे सत्यनिष्ठा के साथ प्रयत्न करना होगा।[2]

अतः शंकर का मत बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है, कि आत्म साक्षात्कार करना मनुष्य का अपना लक्ष्य है, और दूसरे लोगों के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझना उचित है एवं काण्ट के अनुसार "अपने को पूर्ण करने का सदा प्रयत्न करो और अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करके दूसरों को सुख सुलभ करो; क्योंकि तुम दूसरो को पूर्ण नहीं बना सकते।

काण्ट का नैतिक दृष्टिकोण काण्ट के तर्कबुद्धि वादी दृष्टिकोण के प्राय. समतुल्य है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "सुख को अपना लक्ष्य समझना भूल है, संसार में सारे दुःखों का कारण यही है कि लोग अज्ञानता वश सुख को

---

१ आत्मौपम्येन——— सः परमोत्कृष्टः शारीरिक भाष्य भगवद्गीता ४, ३२.

२. कर्मयोग पृ० सं० १

ही परम प्राप्तव्य मानते हैं।[1]

ब्रह्म जिसका साक्षात्कार शंकर के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, केवल चित् स्वरूप ही नहीं है बल्कि आनन्दस्वरूप है, इसमे सन्देह नहीं कि यह आनन्द शुद्ध और शाश्वत होने के कारण क्षणिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाले अशुद्ध और क्षणभंगुर सुख से बिल्कुल भिन्न है फिर भी इसे इन्द्रियातीत, मनसातीत, विलक्षण और शाश्वत सुख कहा जा सकता है।

आत्म त्याग के द्वारा आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करना **'पूर्णतावाद'** की प्रमुख उक्ति है, **ब्रैडले** के अनुसार इसका तात्पर्य संकल्प और वस्तु का तादात्म्य है। इसके लिए हमें अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का कुछ निषेध करना पडता है।[2]

हमारा एक निजी व्यक्तित्व होता है, जो दूसरो से भिन्न और अपने मे केन्द्रित होता है। उसमें अपने–पराये की भावना रहती है। आत्म–त्याग का अर्थ है कि हम सचेत होकर इस व्यक्तित्व को पूर्णतः या अंशतः अपने उच्च अस्तित्व के लिए समर्पित कर दे। यही सकल्प का आदर्श से तादात्म्य है। आत्म–साक्षात्कार है।[3] अतः उनके अनुसार अपने को **जानो** का अर्थ है, अपने मे पूर्ण का अनुभव करके अपनी आत्म–चेतना को अनन्त का अंग समझो और उस रूप मे अपने को जानों।

---

१. सुख च द्विविधं – वेदान्त परिभाषा ८.

२. ए मैनुअल आंफ एथिक्स पृ० सं० ६६.

३. ऐथीकल स्टडीज पृ० सं० ३०६.

हेगल के अनुसार सीमित और संकुचित अह नष्ट होना चाहिए, और आध्यात्मिक जगत् में ऊपर उठकर व्यापक और उदार जीवन अपनाना चाहिए। इस प्रकार हेगल ने आत्म–त्याग के द्वारा आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करने पर बल दिया है, तथा उसका नैतिक महत्व माना है।

शंकर अपने सत् स्वरूप की प्राप्ति को जीवन का सर्वोच्च आदर्श मानते हैं। और अपने सीमित स्वार्थो को त्यागकर सबके कल्याण की कामना करने मे नैतिकता का पालन स्वीकार करते हैं, उनके साधक और ब्रह्मवेत्ता दोनों ही सबको समदृष्टि से देखते है। वे न तो किसी से घृणा करते है और न किसी को कष्ट पहुँचाते है। सज्जन पुरूषों का उत्कर्ष और वैभव अन्य लोगो के कल्याणार्थ होता है। **परोपकारायं सतां विभूतयाः।**[1]

शकर के अनुसार वैयक्तिक स्वार्थ को कुल के लिए, कुल के स्वार्थ की ग्राम के लिए, ग्राम का स्वार्थ देश के लिए और देश तथा सारे संसार का स्वार्थ सर्वव्यापी आत्मा के लिए त्याग देना चाहिए। आत्मा तो उन सबका सत् स्वरूप है, जो पृथ्वी और इससे बाहर अन्य लोको तक मे वास करते हैं।

त्यजेदेकं कुल स्वार्थे ग्राम स्वार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपद स्वार्थे, आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्।।

इस प्रकार हर स्तर पर संकुचित अहं को त्यागकर क्रमश. ऊपर उठने की बात कही गयी है।

---

१. शारीरिक भाष्य भगवद्गीता

अध्याय ४-

(माध्यमिक) शून्यवाद और (अद्वैतवेदान्त) ब्रह्मवाद -

माध्यमिक नय के प्रमुख आचार्य नागार्जुन है। इन्होने महायान सूत्रो में विखरे हुए शून्यवाद को सुब्यवस्थित किया। माध्यमिको को माध्यमिक इसलिए कहा जाता है। कि वे मध्यम मार्ग को अपनाते है, मध्यम मार्ग बुद्ध की शिक्षा थी वैभाषिक और सौत्रान्त्रिक ने भी किसी न किसी अर्थ में मध्यम मार्ग को अपनाया था। सर्वशून्यता का प्रतिपादन करने के कारण माध्यमिको को शून्यवादी कहा जाता है।[1] शून्यवाद तत्ववाद और तर्कशास्त्र दोनो है।

वस्तुतः यहाँ तत्ववाद तर्कशास्त्र हैं और तर्कशास्त्र तत्ववाद हैं। शून्यवाद ने तत्ववाद तर्कशास्त्र की अभिन्नता को वैसे ही प्रतिपादित किया जैसे हेगल ने पश्चिम में किया है। किन्तु जहाँ हेगल का दर्शन एकतत्ववादी (अद्वैतवादी) है, वहाँ शून्यवादी अद्वयवादी है।

शून्यता की सच्चा अर्थ नि.स्वभावता है आजकल कुछ लोगो ने शून्यता को अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म के साथ अभिन्न कर दिया है। मध्ययुग में मध्वाचार्य के अनुसार शून्यवादियों का शून्य और अद्वैतवादियो का ब्रह्म एक है। किन्तु यह दृष्टि मिथ्या दृष्टि है शून्य और ब्रह्म मे अन्तर है।[2]

ब्रह्म आत्मा हैं शून्य अनात्मता हैं। ब्रह्म पूर्ण है, यह पूर्णता है भरा पूरा है। शून्य निःस्वभावता है रिक्तता है। ब्रह्म सान्वय है, शून्य निरन्वय है। यही नहीं, ब्रह्म कूटस्थ है वस्तु है। शून्य सापेक्षता है, प्रकिया है। फिर ब्रह्म सन्मात्रता है, शून्य सत्–असत्, सदसत्, और न सत् न असत् की कोटियों से परे है।

---

१. प्रसन्नपदा पृ० सं० ४६१.

२. वही पृ० सं० २६४.

शून्य को तथता और ब्रह्म को सन्मात्रता बताकर कुछ लोग दोनो को **एकार्थक कहते है,** किन्तु तथता का अर्थ निस्वभावता है, और सन्मात्रता का अर्थ स्वभावता, स्वरूपता,। सभी वस्तुए शून्य है, क्योकि सभी वस्तुए निस्वभाव है, इसी तरह अद्वैतवादियो कि दृष्टि मे सभी वस्तुए आत्म है क्योकि वे आत्मपूर्वक हैं अद्वैतवाद सर्वात्मवाद हैं और शून्यवाद सर्वशून्यवाद।

माध्यमिक शून्य को अद्वय कहते है, अद्वैत नहीं और अद्वैतवादी वेदान्ती ब्रह्म को अद्वैत कहते है, अद्वय नहीं। अद्वैत का अर्थ अभेद है, जो भेद व्यावर्तक है वह अद्वैत है।

शून्य और ब्रह्म को अनिर्वचनीय और परमार्थ कहे जाने के कारण दोनो को अभिन्न समझा गया है। लेकिन अनिर्वचनीयता के आधार पर दोनो को एक या अभिन्न कैसे कहा जा सकता है?।

नागार्जुन के शून्यवाद मे मायावाद अब्यक्त था। विज्ञानवाद ने उसको स्पष्ट कर दिया। उसने यह मान्यता प्रस्तावित की, कि समस्त जगत् मायोपम है।

शून्यवादी स्वयं को माध्यमिक कहते है। माध्यमिक का तात्पर्य मध्यम मार्ग, यह मध्यम मार्ग अरस्तू के **स्वर्णिममघ्यम** (Golden Mean) **हेगल के सम्पक्ष** । (Synthesis) तथा वेदान्त के समन्वय कि भॉति सत् और असत्, शून्य और अशून्य, भाव और अभाव, पुण्य और पाप, आदि समस्त द्वन्द्वों मे अर्थात् पक्ष और विपक्ष दोनो में सूत्ररूप से, व्याप्त रहकर उनको जीवन और ज्योति देता हुआ, उनका आधार और अधिष्ठान बनता हुआ भी उनसे विलक्षण और परे है । यही तथागताभिसम्वुद्ध मध्यमप्रतिपद् हैं, जिसके पूर्ण विकास का श्रेय माध्यमिक दर्शन को हैं ।

अभाग्यवश 'शून्य' शब्द का प्रचलित साधरण अर्थ शून्यवाद को अन्यथा समझने मे बहुत सहायक हुआ है। शून्यवादी 'शून्य' शब्द का नितान्त भिन्न अर्थ लेते है। इन दोनो अर्थो मे रात–दिन का अन्तर हैं। शून्य शब्द का साधरण प्रचलित अर्थ लेकर अनेक दार्शनिको जिनमे पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन, शून्यवाद, को 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध'_'असन्नास्तिक्य' सिद्ध करने के मिथ्या और ब्यर्थप्रयास में कटिबद्ध हुए हैं ।

माध्यमिक दर्शन में शून्य शब्द का अर्थ 'अनिर्वचनीय' है। शून्य एक दुधारी तलवार हैं । इनके दो रूप हैं, दो दृष्टिकोण है एक दृष्टि से 'शून्य' का अर्थ हैं 'स्वभावशून्य' और दूसरी दृष्टि से भी हैं और 'माया' भी यह 'निर्वाण' भी हैं, और 'मिथ्या भी हैं, यह 'तत्व' भी है, और 'ब्यवहार' भी। तत्व अनिर्वचनीय है, क्योकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकतीः ससार भी अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह न सत् है, न अद्सत्ः न सदसद्भिन्न ।

संसार अनिर्वचनीय होने के कारण 'मिथ्या' हैं, किन्तु तत्व अनिर्वचनीय होने के कारण सत्य हैं क्योकि वह स्वानुभूति अर्थात् विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। तत्व ही अविद्या के कारण संसार प्रतीत होता हैं, और ससार ही विद्या से तत्व जान लिया जाता हैं। निर्वाण और ससार में कोई अन्तर नहीं, केवल दृष्टिकोण का भेंद हैं। संसार 'स्वभावशून्य' हैं,। और तत्व 'प्रपञ्चशून्य'।

संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष होने से प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से मिथ्या है। और जो मिथ्या है वह वास्तव में स्वभावशून्य, सत्तारहित और जो मिथ्या है वह वास्तव में स्वभावशून्य' सत्तारहित और अनात्म हैं किन्तु 'स्वभावशून्य' स्वभाव की ओर संकेत करता है। यह स्वभाव सदा सत्य निर्विकार तत्व है यह शान्त, शिव गम्भीर और पूर्ण है । यहाँ सम्पूर्ण विकार, विकल्प, उपाधि, उपेक्षा, प्रपंच्च

शान्त हो जाते है। यह स्वानुभूति विशुद्ध ज्ञान स्वरूप अद्धय तत्व 'प्रपञ्च शून्य' है।

अतः स्पष्ट है कि 'शून्य' शब्द का अर्थ असत्' या केवल 'अभाव' कदापि नहीं हैं। शून्य का अर्थ है, अनिर्वचनीय। संसार और निर्वाण दोनो अनिर्वचनीय है, किन्तु प्रथम अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है और द्वितीयसत्य। अतः संसार के लिए प्रयुक्त शून्य शब्द का अर्थ है प्रतीत्य समुत्पन्न स्वभावशून्य और निर्वाण के लिए प्रयुक्त शून्य शब्द का अर्थ है अद्धय तत्व या प्रपञ्च शून्य ।

सद्धर्मपुन्डरीकसूत्र की उक्ति है जो पुरूष यह नही जानते कि जगत का अर्थ अन्योन्यापेक्षा या परस्परसंभवन है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ नहीं समझतें, वे मूर्ख, जात्यन्धो की भांति इस दु.खमय आवागमन के चक्र में घूमा करते है। जो यह जानते है कि सम्पूर्ण जगत्पदार्थ व्यावहारिक और इसलिए स्वभावशून्य है, वे बुद्ध ज्ञान या बोधि की ओर अग्रसर होते है।[1]

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारिकतासूत्र–में बारम्बार यह प्रतिपादित किया गया है, कि प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ तत्वचिन्ता के सम्मुख नहीं टिक सकता, विचार के तीव्र आघातों को सह नहीं सकता। किसी भी वस्तु का बुद्धिगम्य होना ही उसके पारमार्थिक मिथ्यात्व का द्योतक हैं। अतः बुद्धिगम्य सब पदार्थ वास्तविक सत्ता शून्य अर्थात् स्वभावशून्य है। उसकी सत्ता आपेक्षिकी हैं।

बुद्धि द्वारा विवेचित सब पदार्थ स्वप्नवत्, प्रतिध्वनिवत्, प्रतिविम्ववत् मायावत् स्वभावशून्य है।

---

१. सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमा सदा ।

एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम्।। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र पृ० सं० १४३

इसी प्रकार शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र भी सब धर्मों को, सब बुद्धिगम्य पदार्थो को, स्वभावशून्य कहता हैं। सब धर्म मायोपम है, स्वप्नोपम है, प्रतिभासोपम है। उत्पत्ति है, न निरोध है, न हानि है, न बुद्धि है, न ससार है, न निर्वाण हैं, न भाव है न अभाव है, न शून्य है, न अशून्य है।[1] सबधर्म नामरूपमय हैं, नामरूप होने से माया हैं, क्योंकि नामरूप ही माया है। माया न सत् है न असत् न सद्सत्।[2]

आचार्य नागार्जुन के तीव्र खण्डनप्रहारों के आगे बुद्धिग्राहय पदार्थ अपनी धज्जियाँ उड़ाते हुए खण्ड–खण्ड होकर ढह जाते हैं। उसकी नितान्त सूक्ष्म तर्कपद्धति के आगे जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ तथा बुद्धि की समस्त धारणायें स्वभावशून्य और मिथ्या प्रतीत होती है। कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, कोई पदार्थ न अपने आप (स्वत.) उत्पन्न हो सकता है, न दूसरे के कारण (परतः) न अपने और दूसरे दोनो के कारण (द्वाभ्यां) और न बिना कारण। (अहेतुतः)। कोई भाव स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता।

भगवान बुद्ध का कथन है कि संसार पर्वूपर कोटि शून्य है इसका न आदि है न अन्तः और यह न्याय का अटल सिद्धान्त हैं, कि यदि कोई वस्तु न आदि में हो न अन्त में, तो वह मध्य में भी कदापि नहीं हो सकती। निर्वाण भावरूप नहीं है। यदि निर्वाण को भावरूप माना जाए तो अन्य भावो के समान उसे भी जन्म–मरणशील मानना पडेगा। तब उसका कोई कारण मानना पडेगा।

पारमिता का अर्थ हैं पूर्णत्व। षट्पारमिताओ में दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा में उत्तरोत्तर पारमिता श्रेष्ठ हैं।

---

१ शयसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृ० सं० ११६,१२०,१८५,२६२.

२. नामरूपमेव माया मार्येव नामरूपम् – वही पृ० सं० ८६८.

विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात् निरपेक्ष, निर्विकार, निष्प्रपञ्च एव सम्बोधिनिष्ठ बोधिचित्त का ज्ञान ही प्रज्ञापारमिता है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता सूत्र में इस ज्ञान को आकाशवत, निर्लेय निष्प्रपंञ्च, निरक्षर, गम्भीर, सर्ववाग्थिषयातीत, वितर्कशून्य अनभिलाप्य अचिन्त्य, अक्षत् एवं सम्यक्सम्बोधि कहा गया हैं। प्रज्ञा पारमिता सम्पूर्ण बुद्धों की वत्सला माता मानी गयी है।

लंकावतार सूत्र भी परमार्थ को ज्ञानगोचर, प्रज्ञागोचर, तथागत प्रत्यात्मगतिगम्य, करतलामलकवत् तथागत प्रत्यक्षगोचर मानता है। बागविकल्पबुद्धिगोचर नही। तथागत सर्वप्रपच्चातीत है, तत्व सर्व प्रपच्चोपशम् है। समाधिराजसूत्र कहता है कि बहुत से लोग 'शून्यता'–'शून्यता' चिल्लाते है, किन्तु उसका अर्थ नहीं समझते। 'शून्यता' के सत्यार्थ को समझे बिना ही वे हम पर मिथ्या लांछन लगाते है।

स्वयँ आचार्य नागार्जुन 'तत्व' की सत्ता स्वीकार कर उसका लक्षण स्पष्ट करते हैं, जो विशुद्ध ज्ञान द्वारा अपरोक्षानुभूति से साक्षात् किया जा सके, जहॉ सापेक्ष बुद्धि की समस्त कोटियॉ और धारणायें सन्तुष्ट होकर शान्त हो जाए तो सम्पूर्ण प्रपंञ्च से 'शून्य' हो जहॉ मानवीय बुद्धि के सारे विकल्प तर्क–वितर्क विचार सन्देह आदि विलीन हो जाए, जो अद्वयरूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो, वहीं तत्व है। बौद्ध दर्शन में दो दृष्टिकोणों से सत्य का निरूपण किया जाता है, एक तो संवृत्तिसत्य और दूसरा परमार्थ सत्य।

जो इस विभाग को नहीं जानते वे भगवान बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते। संवृत्ति एक प्रकार का आवरण है, जो वास्तविक सत्य को छिपाये रहता है। यह व्यवहार मात्र है। यह केवल संकेत है। यह प्रज्ञप्ति धर्म है। अन्ततोगत्वा यह सत्य नहीं सिद्ध होता। किन्तु इसका

असत्यत्व केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही अनुभव किया जा सकता है। व्यावहारिक दशा मे इसकी सत्ता कभी अस्वीकृत नहीं की जा सकती। यद्यपि यह सत्य विभाग बुद्धिकृत होने से व्यवहार मात्र है, तथापि व्यवहार–दशा में यह सर्वथा मान्य है।

शून्यता सब दृष्टियो का नि सरण है, जो पुरूष शून्यता को भी बुद्धि कोटि के रूप में ग्रहण करना चाहता है वह असाध्य है। शून्यता को बुद्धि की किसी भी कोटि के रूप में ग्रहण करना। आचार्य नागार्जुन कहते है, उतना ही भयंकर और विनाशकारी है, जितनी किसी विषैले जीवित कृष्ण सर्प को असावधानी से पकड लेना या मिथ्या ज्ञानी बनना या तन्त्र साधना मे भ्रष्ट हो जाना।

आचार्य नागार्जुन के अनुसार लोग शून्यता के सही अर्थ को जानकर शून्यवादी पर नास्तिक होने का लॉछन लगाते है। वे शून्य का अर्थ 'असत्'या अभाव समझते है अतः उनका विचार है कि शून्यवादी समस्त ससार को आर्यसत्य चतुष्टय को, बन्धको, मोक्ष को, संघ को, धर्म को, बुद्ध को, सर्बथा असत् मानता है, और सम्पूर्ण लोक व्यवहार का विनाश करता है। किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही, इन लोगो को शून्यता का अर्थ ज्ञात नहीं।

ये लोग शून्यता पर आक्षेप लगाते है। वे सर्वव्यर्थ है, क्योकि हमारे शून्य में दोष का कोई प्रसंग ही नही आ सकता।[1]

---

१. अत्र ब्रूम. शून्यतायां न त्व वेत्सि प्रयोजनम् ।
शून्यतां शून्यतार्थं च तत एवं विहन्यसे ।।
शून्यतावामधिलयं यं पुनः कुरूते भवान् ।
दोष प्रसंगो नास्माकं स शून्ये नोपपद्यते ।। वही २४, ७, १३.

यदि संसार अशून्य है, तो वह 'सत' है, और यदि वह 'सत्' है तो त्रिकालाबाध स्वतन्त्र सत्ता होनी चाहिए। जो लोग संसार को अशून्य मानते है, वे संवृत्ति या व्यवहार और परमार्थ के विभाग को नष्ट कर देते है, रासार को स्वभावशून्य और प्रतीत्य–समुत्पन्न या सापेक्ष न मानना सम्पूर्ण लोकव्यवहार को नष्ट कर देना है।[1] यदि शून्य का अर्थ 'असत्' लिया जाए और संसार को शून्य कहा जाए, तो उत्पाद, स्थिति इत्यादि असंभव सिद्ध होगे। जो 'असत्' है वह बन्ध्यापुत्र और शशश्रृंग के समान है।

अतः संसार को अशून्य या 'सत्' मानना अथवा शून्य या 'असत् मानना अत्यंत आवश्यक है। हम शून्यवादी ससार को शून्य मानते है। किन्तु हम शून्य का अर्थ असत् मानते है। हम शून्य का अर्थ सदसद् विलक्षण, स्वभावशून्य आपेक्षिक या प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते है। परमार्थतः ससार स्वभाव शून्य होने के कारण उत्पाद–स्थिति भंग वर्ज्य है। अतःशून्य को केवल स्वभाशून्य समझना भी भारी भूल है।

शून्य का अर्थ प्रपंञ्चशून्य तत्व या परमार्थ भी है। परमार्थतः यह प्रतीत्यमुत्पाद ही शिव और अमृत निर्वाण है। बुद्धि अपनी अपेक्षा तर्क को छोडते ही, अद्वय परमार्थ हो जाता है। जहॉ सब प्रपञ्च शान्त हो जाते है। अतः केवल शून्यवादी ही संसार को व्यवहार दशा में सत्य मान सकते है। केवल शून्यवादी ही आर्यसत्य उत्पत्ति स्थिति नाश, संघ धर्म, बुद्ध आदि के अर्थ और महत्व को समझ सकते है।

---

१. सर्व संब्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिवाधसे ।

यत्प्रतीत्य समुत्पादम्रन्यतां प्रतिवाधसे ।। वही २४, ३६.

अपनी **विग्रहब्यावर्न्तनी** नामक कृति में आचार्य नागार्जुन पूर्वपक्ष गे शून्यता पर किये गये आक्षेप प्रस्तुत कर उत्तर पक्ष में उन सबका खण्डन करते है।

(१) जगत के सम्पूर्ण धर्मो को असत् कहने वाली शून्यता स्वयं अरात्य है।

(क) क्योंकि शून्यता की सिद्धि में दिये गये प्रमाण स्वय असत् हैं।

(ख) और यदि वे असत् नहीं है, तो वे शून्यवादी की प्रतिज्ञा को ही समूल नष्ट कर देते है, क्योंकि शून्यवादी कम से कम अपने प्रमाणे को तो असत् नही मानता।[1]

(ग) शून्यवाद की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

आचार्य नागार्जुन का उत्तर है:-

१. जगत के सम्पूर्ण धर्मो को मिथ्या कहने वाली शून्यता सत्य है।

(क) क्योकि वाणी और बुद्धि का मिथ्यात्व शून्यता को मिथ्या नही कर सकता । शून्यता का अर्थ सर्वथा असत् नहीं है, अपितु प्रतीत्य समुत्पाद है।

(ख) हमारे प्रमाण हमारी प्रतिभा को नष्ट नहीं करते। हम यह नहीं कहते कि हमारा वचन तो अशून्य है और शेष सब शून्य है।

(ग) स्वयं प्रमाणो की वास्तविक सत्ता सिद्ध नही हैं। अग्नि के समान प्रमाण स्वयं को प्रमाणित नहीं कर सकता। यदि अग्नि स्वयं को प्रकाशित करे, तो वह स्वय को जलायेगी भी। प्रमाण अन्य प्रमाण द्वारा भी सिद्ध नही किया जा सकता। क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आयेगा।

---

१. यदि कांचन प्रतिज्ञा स्यान्में तत् एवं में भवेद् दोषः ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति में दोषः ।।
संब्यवहारं च वयं नानभ्युपगम्य कथयामः ।। विग्रहब्यावर्त्तनी, का० २६,२८.

प्रमाण प्रमेय द्वारा भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमेय की सिद्ध प्रमाण द्वारा मान्य है।

रत्नावली में आचार्य नागार्जुन कहते है। कि जिस प्रकार एक व्याकरणाचार्य अपने शिष्यों को वर्णमाला और मात्रा भी पढाता है, उसी प्रकार भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को उनकी बुद्धि के अनुसार भिन्न–भिन्न उपदेश दिये। श्रावकों को उन्होने 'सत' या 'अस्ति' की शिक्षा दी ताकि वे लोग अशुभ कर्मो का त्याग करके शुभ कर्म करे और अपनी सत्वशुद्धि करे। प्रत्येक बुद्धो को उन्होने 'असत' या 'नास्ति' की शिक्षा दी ताकि वे लोग अहकार, ममकार का परित्याग कर सकें। तथा बोधिसत्वो को उन्होने अपनी सर्वोच्च शिक्षा **सदसदतीत** या **अस्ति नास्ति ब्यतिक्रम** की शिक्षा दी। ताकि वे लोग सब प्रकार के द्वैत से ऊपर उठकर अद्वैत की शरण ले सकें।

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यही उत्कृष्ट शून्यवाद है जिसने शून्यता को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जिसने शून्यता को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना।

आचार्य नागार्जुन के विख्यात शिष्य आचार्य आर्यदेव ससार को अलातचक्र स्वप्न प्रतिभास, प्रतिध्वनि मरीचिका धूम अभ्र के समान असत्य और क्षणिक मानते है।

किन्तु वे भी असत्य को नितान्त असत् नहीं मानते। व्यावहारिक दशा मे संसार की सत्यता उन्हे मान्य हैं।[1]

---

१. अलारचक्र निर्वाण स्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः ।

धूमिकान्तः प्रतिश्रुत्कामरीच्य भ्रमैः समो भवः ।। चतुः शतक का ३२५.

वे अहंकार को झूठे 'नैरात्म्य' या असत्यवाद से कही श्रेष्ठ समझते है। शून्यता के नाम से ही असत् थर्राता है। सच्चा नैरात्म्य शून्यता ही है यह कुमतिपुरूषों के लिए भयंकर और सज्जनों के लिए श्रेयस्कर है।

शून्यता का अर्थ चन्द्रकीर्ति कहते है नास्तिक्य नहीं है। जब हम संसार को सत् नहीं मानते तो असत् कैसे मानेगे बिना सत्य के असत् कैसे संभव है? शून्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की समस्त कोटियो और धारणाओं की पहुँच के बाहर जो तत्व है वही शून्यता है।[1]

शून्यवाद के अन्तिम महान् आचार्य शान्तिदेव अपने 'बोधिचर्यावतार' मे तत्व को विशुद्धवोधिरूप 'चित्त' वोधिचित्त मानकर मार्मिक छन्दों मे उसकी भूरि–भूरि प्रशंसा करते है। शान्तिदेव या बोधिचित्त स्वानुभूतिरूप स्वतः सिद्ध स्वयं प्रकाश विशुद्ध ज्ञान है। यह अद्वय है, शिव है, परमानन्द है। इसकी प्राप्ति से एक अशुद्ध मरणशील मानव अमर्त्य और शुद्ध देव बन जाता है। इसमें एक अशुचि एवं अज्ञानी मानव को अत्यन्त विशुद्ध सम्यक् सम्बुद्ध बना देने की क्षमता है।

जो इस संसार के भीषण दुःखो से वचना चाहता है, जो सन्तप्त प्राणियो के व्यसनो को हरना चाहता है, और जो आनन्दसागर मे निमग्न होना चाहता है, उसे इस वोधिचित्त को कभी नहीं छोडना चाहिए। हमें अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करना पडेगा। केवल पढने से कुछ नहीं होगा।

---

१. सर्वेषामेव दृष्टिकृतानां सर्वग्राहाभिनिवेशानां यन् निःसरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता । वही पृ० सं० २४७.

यदि कोई रोगी औषधि सेवन न करे और केवल चिकित्सापत्र पढे जाए तो उसे कोई लाभ नहीं हो सकता।[1] वोधिसत्व अपने निर्वारण को स्वीकार नही करता। उसे दुःख सन्तप्त प्राणियो के उद्धार मे ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होता हैं। क्लेशावरण अर्थात् अहंकार ममकारजन्य दुःख तथा ज्ञेयावरण अर्थात विषयजन्य दुःख दोनो को नष्ट करना हैं, शून्यता इन दोनो आवरणों का प्रतिपक्ष है।

शून्यता समस्त दु.खो को नष्ट करने वाली है, शून्यता ही परमानन्द एव विशुद्ध ज्ञानरूपी शिव और अद्धय तत्व हैं, शून्यता ही अभय स्थान हैं। आश्चर्य है, कि लोग इससे भयभीत होते है।[2]

शून्यवादी और विज्ञानवादी दोनो जगत को मिथ्या मानते है। शून्यवादी उसे सद्सदनिर्वचनीय होने से मिथ्या मानते है। और विज्ञानवादी उसे विज्ञान वाह्य न होने से मिथ्या मानते है।

पारमार्थिक दृष्टि से शून्यवादी के लिए जगत और तत्व में कोई अन्तर नहीं तथा विज्ञानवादी के लिए जगत् और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं। दोनो ही कट्टर अद्वैती है। दोनो एक दूसरे के पोषक हैं। शून्यवादी इस पर जोर देते हैं, कि समस्त बुद्धिजन्य प्रपंञ्च माया या शून्य है, विज्ञानवादी इस पर जोर देते हैं, कि प्रपंञ्चशून्य तत्व विज्ञानमात्र हैं।

गौडपादाचार्य दोनो से पूर्णतया सहमत है। सद्सत्सद्सद्निर्वचनीय मायावाद के बीज शून्यवाद आरै गौडपाद मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

---

१. चिकित्सा पाठ मात्रेण रोगिणः किं भविष्यति । वही ५/१०६

२. क्लेश ज्ञेयावृत्तितमः प्रतिपक्षो हि शून्यता ।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ।। वही पृ० सं० १६/ ४५.

शांकर वेदान्त ने वसुवन्धु के विज्ञप्तिमात्र को ब्रह्न या आत्मन् में आलय विज्ञान को ईश्वर मे, मनोविज्ञान को जीव में, विषय विज्ञप्ति को जगत् में, और परिणाम को विवर्त मे, परिवर्तित कर दिया है।

शंकराचार्य ने नागार्जुन, वसुबन्धु और गौडपाद के सिद्धान्तों को परिमार्जित करके चरम विकास पर पहुँचा दिया है। उपनिषद् के बिखरे हुए तन्तुओं को, जिन्हे अनेक शून्यवादी विज्ञानवादी और वेदान्तवादी अचार्यो ने एकत्रित, परिवर्द्धित और परिमार्जित कर पट के रूप में बुनने के लिए श्लाध्य प्रयत्न, किया, उन्हे पूर्णतया विशुद्धपरिष्कृत तथा शोभनीय बनाकर चिरकाल तक जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक नग्नता और बर्बरता ढकने के लिए विशाल विद्धता महनीय महत्ता और कमनीय कीर्ति है।

शकराचार्य 'शून्य' शब्द का प्रचलित 'नितान्त असत् के अर्थ मे लेते हैं और शून्यवाद को कोरा असत्यवाद कहकर घृणा के साथ तिरस्कृत कर देते है।

शून्यवाद को शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसे सर्वप्रमाणबिप्रतिषिद्ध मानते है। शून्यवाद उनके मत (स्वतः तिरस्कृत) हैं जब तक शून्यवादी किसी 'तत्व' की सत्ता स्वीकार न कर ले, तब तक उसका समस्त व्यवहार का अपलाप कर देना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।[1]

किन्तु शंकराचार्य इस बात को भूल जाते है या यह बात उन्हे विदित नहीं थी कि शून्यवादी 'तत्व' की सत्ता स्वीकार करता है।[2]

---

१. न ह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽयत् तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽयह्मोतुम् । शारीरिक भाष्य २,२,३१

२. माध्यमिक कारिका १८,६.

शंकर के अनुसार ज्यों–ज्यो हम बौद्धमत की सूक्ष्म परीक्षा करते है, त्यों–त्यों ही वह सिकताकूप के समान गिरता जाता है, उसकी कोई दृढ आधारशिला नहीं है। अतः उसमें न तो सत्य है और न वह व्यवहार के ही योग्य है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन परस्पर विरूद्ध मतों का उपदेश करके बुद्ध ने अपनी स्वाभाविक 'असम्बद्धप्रलापता' का परिचय दिया है, ताकि उनके शिष्य इस असमजस द्वारा मोह में फंसे रहे। अत. श्रेयस्काम पुरूषो द्वारा यह बौद्ध सिद्धान्त सर्वथा अनादरणीय है।[1]

शंकराचार्य शून्यवाद का कोई खण्डन नहीं करते। वे उसे केवल सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध स्वतस्तिरस्कृत असत्वाद कहकर टाल देते है। शून्यवादी तत्व की सत्ता स्वीकार किये बिना व्यवहार का अपलाप नहीं कर सकता, तब वे इस बात को मान लेते हैं, कि शून्यवाद में किसी 'तत्व' की सत्ता स्वीकृत नहीं हैं।

शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती शंकर का अनुसरण करते हुए किन्तु उनके अभिप्राय को कदाचित् न समझते हुए, बौद्ध दर्शन के विषय में निम्नांकित विचार प्रकट करते है।

शून्यवाद नास्तिक असद्वाद है। शून्य का अर्थ है नितान्त असत्। यह **सर्वप्रमाणविप्रतिषद्ध** है। विज्ञानवाद क्षणिक विज्ञानो को मानता है और **'दृश्य'** को **'द्रक'** के अन्तर्गत मानकर मनोविज्ञानवाद बन जाता है। विज्ञान तथाकथित बाह्य जगत् को विज्ञान बाह्य न होने के कारण सत् नहीं मानता वेदान्त जगत् को **सद्सद्विलक्षण** होने के कारण मिथ्या मानता है। बौद्ध दर्शन भ्रात है और बौद्ध शुष्क तर्कपटु है।

---

१. सर्वथाप्यनादरणीयोयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः। शारीरिक भाष्य २,२,३२.

विमुक्तात्ममुनि शून्यवाद के खण्डन मे शून्य को नितान्तअसत् के अर्थ में लेते है। उनके विचार से यदि शून्यवादी सबको शून्य समझता है तो उसे सबसे पहले अपने शून्यवाद को ही 'शून्य' समझ लेना चाहिए यदि वह सबको 'असत' समझने पर तुला हैं तो उसे अपने मत को ही 'असत्' समझ लेना चाहिए।[1] वेदान्ती के लिए जगत 'शून्य' या 'असत' नहीं है। अपितु सद्सद्निर्वचनीय और इसीलिए मिथ्या है। यदि शून्यवादी भी अपने 'शून्य'या असत् का अर्थ माया या सदसद्विलक्षणत्व मानता है। तो उसका हमारा मतैक्य है।[2]

श्री हर्ष स्पष्ट स्वीकार करते है कि 'शून्य' कर अर्थ नितान्त असत् न होकर सद्सद्विलक्षण या माया हैं। शून्यवाद इसे स्वीाकर करता है कि बिना सत् के असत् की कल्पना असत् है। असत् का भी 'स्वरूप है। 'असत' भी है अर्थात् उसका भी सत्व है।[3] शून्य=सद्सद्विलक्षण=अनिर्वचनीय=मिथ्या है।

शून्य का अर्थ हैं प्रतीत्यसमुत्पन्न अर्थात् सापेक्ष और सापेक्ष की सत्ता सांवृत्तिक है। श्री हर्ष के अनुसार यदि शून्यवाद और वेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद को स्वीकार किया जाए तो अन्य सब दर्शनो के समस्त मतो और लक्षणों को खण्डन निर्वाध किया जा सकता है। शून्यवाद प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक कि विज्ञान तक को, अनिर्वचनीय मानता है। उन सब की कोई स्वत्रन्त सत्ता नहीं हो सकती है।

अतः उनको अनिवर्चनीय, निःस्वभाव और मिथ्या कहा जाता है। किन्तु वेदान्त को मानने वाले ब्रह्मवादी विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त इस समस्त

---

१ अतोयदि भ्रांन्तिरिष्येत् असतख्यातिरेव सा इष्यताम्। वही पृ० स० ११८.

२. असन् मायामिच्छसि चेत् अस्तु समानगतिता। वही पृ० सं० १६५.

३. तस्य नियतस्वरूपस्य नियत विशेषणस्यै वासत्वात् । खण्डन पृ० सं० २१

विश्वप्रपंच को सद्सद्निर्वचनीय और मिथ्या बतलाते है। अत शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त के तात्विक सिद्धान्त एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। शून्यवाद के अनुसार विज्ञान भी मिथ्या है, किन्तु वेदान्त के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है। वेदान्ती को विज्ञान की शून्यता स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है। विज्ञान समेत यह समस्त विश्व शून्य है। इसके विपरीत वेदान्ती विज्ञान को स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध मानता है।

विद्यारण्यस्वामी शून्यवाद को नितान्त असद्वाद मानते है वे माध्यमिको को "शुष्कतर्कपटु" कह कर टाल देते हैं। बिना आत्मा के शून्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता है। क्योकि शून्य का शून्यत्व भी साक्षी ही देख सकता, और यह साक्षी स्वप्रकाश और स्वयसिद्ध है। यह विज्ञान न उदय होता है। न अस्त।

सदानन्द के शब्दो मे यदि 'शून्य' नाम को कोई तत्व है, तो हमारा शून्यवादी से नाममात्र का विवाद है क्योकि वह वेदान्तमय में प्रवेश कर गया है।[1] शून्य तत्व है। अतः शून्यवाद और वेदान्त मे नाममात्र का विवाद है।

शंकराचार्य वेदान्ती यह स्वीकार करते है कि यदि शून्य का अर्थ असत् है तो शून्यवाद ही असत् और सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध है। किन्तु यदि शून्य का अर्थ माया है जो सदसद्निर्वचनीय है, और तत्व पर आश्रित है तो शून्यवाद वेदान्त बन जाता है। 'शून्य' या 'शून्यता' दो अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग एक ओर माया या अविद्याा के लिए किया गया है और दूसरी ओर परम तत्व के लिए भी किया गया है। यह संवृत्ति भी है, और परमार्थ भी है।

---

१. शून्यं नाम किंञ्चित् तत्वमस्ति न वा ।

आद्ये नाममात्रे विवादः वेदान्त मत प्रवेशात्।। अद्वैत ब्रह्मसिद्धि पृ० सं० १०४

यह प्रतीत्य समुत्पाद या सापेक्षता भी है और निरक्षेप तत्व भी है। सावृत्तिक दृष्टिकोण से शून्य= स्वभावशून्य= अस्वतन्त्र= परतन्त्र= प्रतीत्यसमुत्पन्न=सापेक्ष=सदसदनिर्वचनीय=मिथ्या=अविद्याजन्य=व्यावहारिकप्रपञ्च पारमार्थिक दृष्टिकोण से शून्य= प्रपंञ्चशून्य= स्वतन्त्र= परिनिष्पन्न= परमार्थ= निरपेक्ष= निर्विकल्प= चतुष्कोटिविनिर्मुक्त= तत्व= प्रपंञ्चाधिष्ठान।

इस प्रकार शून्यवाद के 'संवृत्ति' और परमार्थ वेदान्त के 'व्यवहार' और परमार्थ है। चन्द्रकीर्ति ने सवृत्ति को मिथ्या सवृत्ति और तथ्य सवृत्ति मे विभक्त किया है महायान सूत्र, नागार्जुन और उनके शिष्य समस्त बुद्धिग्राह्य पदार्थो को शून्य, असत् मरीचिकावत् बंन्ध्यापुत्र बतलाते है, और इन शब्दो से यह भ्रांति हो जाती है कि कही शून्य का अर्थ नितान्त असत् तो नहीं है। किन्तु शून्यवाद के ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिग्राह्य पदार्थो को 'सदसदनिर्वचनीय' होने के कारण ही असत् या मिथ्या कहा गया है।

गौडपादाचार्य शून्यवाद के अजातिवाद से सहमत है। उनकी कारिका और आचार्य नागार्जुन की कारिका मे भावों का और कहीं–कहीं भाषा तक का साम्य हैं। शंकराचार्य जानते हैं, कि शून्यवाद का खण्डन नहीं हो सकता। अत वे 'शून्य' कों 'असत' के अर्थ मे लेकर शून्यवाद को 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' कहकर टाल देते है। किन्तु इतना अवश्य कहते है कि शून्यवादी बिना किसी "तत्व" का आश्रय लिए प्रपंञ्च को शून्य नहीं कह सकता।[1] शून्यवादी 'तत्व' की सत्ता स्वीकार करता है।

नागार्जुन स्वयं तत्व का लक्षण करते हुये कहते है– जो अपरोक्ष, शान्त, प्रपंञ्चातीत, निर्विकल्प, और अद्वय हो, वहीं तत्व है।

---

१. शारीरिक भाष्य २/२/३१.

शून्यवाद विज्ञान तक को शून्य कह देता है जो उसे नही कहना चाहिए, क्योंकि विज्ञान स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध तत्व है। श्री हर्ष को यह ज्ञात नहीं था कि शून्यवाद विशुद्ध विज्ञान को तत्व मानता है और यहॉ शून्य को 'प्रपंञ्चशून्यतत्व' के अर्थ में लेता है। शून्यवाद दर्शन विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तर भूमि ।

बौद्ध दर्शन अपने नैरात्म्यवाद द्वारा विशुद्ध विज्ञान स्वरूप वास्तविक आत्मतत्व का निराकरण नहीं करता। आत्मा को बौद्ध दर्शन अधिकतर 'जीवात्मा' या 'अहकार' के अर्थ मे लेता है। जो अनादि, अविद्या, माया या वासना का कार्य हैं। विशुद्ध आत्मा की सत्ता महायानी बौद्धो ने परोक्ष या अपरोक्षतया सदा स्वीकर की है। वे इसे 'आत्मा' न कहकर बोधि, प्रज्ञा, चित्त बोधिचित्त, तत्व विज्ञान, विज्ञप्ति, विज्ञानमात्र, विज्ञप्तिमात्र, चित्तमात्र, तथता, तथागतगर्भ, धर्मधातु, धर्मकार्य, बुद्धकाय, आदि कहना अधिक पसन्द करते है।

अश्वघोष इसे आत्मा भी कहते है।[1] असंग इसे शुद्धात्मा, महात्मा और परमात्मा कहते है।[2] शान्तरक्षित तक इसे विशुद्धात्मा कह देते है। उपनिषद् सदा आत्मा को परमार्थ सत् या परमतत्व मानते रहे हैं। यही परब्रह्म है। यह विशुद्ध विज्ञान है। यही सच्चिदानन्द है। भगवान बुद्ध ने इस तत्व को माना और इसे प्रज्ञा या बोधि या ज्ञान कहा।[3]

नागार्जुन का अपरप्रत्यय, शांन्त, प्रपंञ्चशून्य, निर्विकल्प और अद्धय तत्व विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्य किसी पदार्थ

---

१. सौन्दरनन्द पृ० सं० १४,५२.

२. सौन्दरनन्द पृ० सं० ८१.

३. केवलो परिपूरो वालधम्मो ।

मे इन विशेषणों को धारण करने की शक्ति कदापि नहीं हो सकती। नागार्जुन स्वयं तत्व का बोधि अर्थात् विशुद्ध विज्ञान कहते है चित्त या विज्ञान की सत्ता इसलिए सावृत्तिक मानी जाती है। क्योंकि उसे परमार्थ बनने के लिए बोधि में लीन होना पडता है।

शान्तिदेव का कहना है कि बोधिचित्त में मानवी अशुचि प्रतिमा को दिब्य 'जिन' प्रतिमा में परिणत कर देने की शक्ति है। अश्वघोष ने संस्कृत धर्मो को अनित्य तथा परमार्थ को नित्य बताया। शून्यवाद ने भी 'स्वभाव–शून्य' धर्मो को क्षणिक तथा 'प्रपंञ्चशून्य' तत्व को नित्य माना। संसार की वस्तुओं को तो सभी दर्शन अनित्य मानते है।

सर्वास्तिवादी बौद्ध क्षणिक परमाणु और क्षणिक विज्ञान की सत्ता स्वीकार करता है ये दोनों अलग–अलग भौतिक एवं चैत्य संघात बनाते है। शकराचार्य का कथन है कि क्षणभगवाद के कारण ये संघात नहीं बन सकते। न तो क्षणिक परमाणु भौतिक संघात ये संघात बना सकते हैं और न क्षणिक विज्ञान स्कन्ध संघात।

बौद्ध दर्शन ने किसी चेतन भोक्ता या नियन्ता की सत्ता नहीं मानी है। जो संघात बना सकें। शंकर ने 'शून्य' शब्द को साधारण प्रचलित 'नितान्त असत्' के अर्थ में लेकर शून्यवाद को सब प्रमाणों से असिद्ध स्वब्याघाती, सर्वनिषेधवाद कहकर उसे निराकरण के अयोग्य मान लिया है, क्योकि सब प्रमाणें से सिद्ध इस लोक व्यवहार का बाध परतत्व के साक्षात्कार के बिना नहीं किया जा सकता।

यह तो सिद्ध है कि शून्यवााद सर्वनिषेधवाद न होकर निरपेक्ष अद्धैतवाद है जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त प्रपंञ्चशून्य शिवतत्व को स्वीकार करता है।

शंकराचार्य के अनुसार आत्मानुभूति जीवन का चरम लक्ष्य है दर्शन केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है। दर्शन की परिणति तत्व साक्षात्कार में होती है। ब्रह्म ज्ञान अनुभवावसान है।[1]

माध्यमिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त मे काफी साम्य है। माध्यमिक दर्शन मे भगवान बुद्ध ने निरपेक्ष अद्वैतवाद का जिसे उन्होने उपनिषद् से ग्रहण किया है पर्याप्त विकास हुआ। माध्यमिक के अनुसार संसार और निर्वाण, बन्धन और मोक्ष वस्तुतः अभिन्न है। निर्वाण अविद्या निरोध है, सर्वदृष्टिप्रहाण है। अशेष कल्पनाक्षय है, और यही प्रपंञ्चोपशम् शिव अद्वैततत्व है। निर्वाण पूर्व समस्त लोक व्यवहार संवृत्ति सत्य है। निर्वाण अपरोक्षानुभूति है जिसे शून्यता , धर्मता, और बोधि कहा जाता है। यही अभय और अमृत अद्वय परमार्थ है। इस माध्यमिक दर्शन का अद्वैत वेदान्त से साम्य स्पष्ट है।

माध्यमिक एवं वेदान्त में मुख्य भेद यह है कि माध्यमिक ने परमतत्व को 'आत्मा' या 'नित्यस्वप्रकाशविज्ञान' संज्ञा से अभिहित नहीं किया। बुद्ध ने समान माध्यमिक ने तत्व के लिए नेति–नेति का ही प्रयोग किया।

नागार्जुन ने तत्व को अपरप्रत्यय अर्थात् स्वानुभूतिगम्य, शान्त, प्रपंञ्चशून्य, निर्विकल्प अनानार्थ या भेदरहित बताया है।[2]

वेदान्त के अनुसार स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध आत्मचैतन्य को स्वीकार किये बिना परमार्थ और व्यवहार की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस विषय में वेदान्त माध्यमिक दर्शन से निःसदेह श्रेष्ठ हैं। वेदान्त ने अद्वैत वाद को अपने मूल प्रस्थान उपनिषद से ग्रहण करके अपनी श्रौत परम्परा के रूप में विकसित

---

१. अनुभवावसानत्वाद ब्रह्मज्ञानस्य । शारीरिक भाष्य २,१,२.

२. माध्यमिक कारिका पृ० सं० १८,६. – डा० सी० डी० शर्मा। पृ० सं० २६६.

किया। अत. अद्धैतवेदान्त की माध्यमिक दर्शन पर श्रेष्ठता होना स्वाभाविक है।

शंकराचार्य ने दार्शनिक विवेचन की विधि बौद्धो से अवश्य अपनाई है। उन्होने नागार्जुन की द्वन्द्व न्यायात्मक विधि का उस सीमा तक अनुसरण नहीं किया जिस सीमा तक **परवर्ती वेदान्ती** और **चित्सुख** ने किया है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है। कि उन्होने इस विधि का प्रयोग किया ही नहीं। लोगो की यह धारणा है कि शकर को यह विधि अपने बाबा गुरूगौडपाद से मिली तो भी यह कहना पडेगा कि वे नागार्जुन की विधि से प्रभावित थे किन्तु परोक्षरूप में,।

शंकराचार्य ने सत्ता का त्रिविध वर्गीकरण किया है।

१ प्रातिभासिक, २. व्यावहारिक, ३ पारमार्थिक।

शून्यवाद दार्शनिक नागार्जुन के दर्शन पर विभाजन बहुत पहले से विद्यमान है। इससें स्पष्ट है शकर सत्ता के इस त्रिविध विभाजन में नागार्जुन से अवश्य प्रभावित हुए होगें। नागार्जुन शंकर की तरह यह मानते है कि केवल परमसत् (परमार्थ) ही नहीं है, वरन इस प्रपंचात्मक विश्व का सापेक्षसत् (लोकसवृत्ति सत्) भी हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रिय भ्रम (लोकसंवृत्ति एवं तथ्य संवृत्ति) विभ्रम (मिथ्या संवृत्ति अथवा अलोक संवृत्ति) इत्यादि भी है जिनका साधारण अनुभव मे बाध हो जाता है और शशक श्रृंग की भाति नितान्त अनस्तित्व भी है। अत. यह संभव है कि शंकर ने सत्ताओं का वर्गीकरण नागार्जुन से ग्रहणकर लिया हो।

किन्तु कुछ विद्वान उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। **प्रोफेसर नौलखा** के अनुसार यदि हम इस बात पर ध्यान दे कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपनिषदों

में भी विद्यमान है और दोनो सप्रदायो के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का भी निरीक्षण करे तो यहीं कहा जा सकता है कि नागार्जुन और शकर दोनो ने इस विचार को उपनिषदों से ग्रहण किया हो। क्या कभी–कभी विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से समान प्रकार की खोजे नहीं की गयी है, यदि समान दशाओ के कारण दो विभिन्न विचारको मे समान विचार आते है तो यह आश्चर्य की बात नही है।

अत. इस सम्बन्ध मे शंकर को शून्यवादी नागार्जुन की अपेक्षा उपनिषदो का ऋणी मानना अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि वे उपनिषदो को आदर करते है और नागार्जुन के दर्शन में कोई रूचि नही रखते।

प्रोफेसर ए० सी० मुकर्जी के अनुसार शंकर के लिए आभास जगत् नितान्त असत् नहीं हैं। ईश्वर उसमें अन्तर्वर्ती है। इसके विपरीत नागार्जुन प्रपंचातक विश्व को सत् नही मानता है। सम्पूर्ण विश्व उसकी दृष्टि मे शशश्रृंग के समान असत् है।

ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में शंकर ने स्पष्ट घोषणा की है कि समस्त वेदान्त का प्रारम्भ सर्वव्यापी आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा का तादात्म्य प्रमाणित करने के लिए होता है। किन्तु इस प्रकार की घोषणा नागार्जुन ने कभी नहीं की। वस्तुतः ऐसी कोई घोषणा उसके निषेधात्मक द्वन्द्वन्याय के साथ पूर्णतः असंगत होगी।

नागार्जुन के 'द्वन्द्व' अद्धय और **शंकर** के 'अद्वैत' सिद्धान्त के आधार पर भी यह मिथ्याा धारणा उत्पन्न हुई कि शकर ने नागार्जुन का अक्षरसः अनुकरण किया। किन्तु वस्तुतः दोनों दो भिन्न सिद्धान्त है। नागार्जुन का 'अद्वय' वह ज्ञान है जो विचार की 'अस्ति' और नास्ति' सत् और असत् वर्गणाओं से ऊपर उठने

की बात करता है। यह वह ज्ञान है जो बुद्धि विकल्पो के विरोधो से ऊपर है बुद्धि विकल्प उस पर लागू नहीं होते।

इसके विपरीत अद्वैत विरोधातीत ब्रह्मन या सन्मात्र का ज्ञान है जहॉ आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता स्थापित होती है। कभी कभी विज्ञानवाद अपने परमतत्व विज्ञप्तिमात्रता के लिए 'अद्वय' शब्द का प्रयोग करता है किन्तु यहॉ 'अद्वय' अद्वैत का पर्याय है।

अद्वय का विवेचन विशुद्ध रूप से ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से किया गया है इसके विपरीत 'अद्वैत' सत्तामूलक दृष्टिकोण से।

माध्यमिक शून्यवाद के 'अद्वय' वाद का लक्ष्य चिन्तन प्रकिया का विशुद्धीकरण है। बुद्धि की सबसे बडी कमी इस बात मे है कि वह परमार्थ (परमतत्व) भेद–अभेद, नित्य–अनित्य, एक और बहु इत्यादि के द्वन्द्व में बाधना चाहती है। ये दृष्टिकोण परमार्थ का मिथ्या रूप उपस्थित करते है अद्वय दृष्टि इसका परिमार्जन कर परमार्थ का वास्तविक रूप उपस्थित करती है। बुद्धि के इस विशुद्धीकाण के स्वरूप प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है और परमार्थ का ज्ञान तथता या भूतकोटि के रूप में होता है अतः यहॉ ज्ञान के वास्तविक दृष्टिकोण पर बल दिया गया है न कि ज्ञेय (परम–ज्ञेय–ब्रह्म) पर।

इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त मे परमश्रेय (ब्रह्म) पर बल दिया गया है। जब भेदातीत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो ज्ञाता भी ज्ञेय श्रेय रूप हो जाता है **ब्रह्मविद् ब्रह्ममेव भवति।**

नागार्जुन और शंकर के द्वन्द्वन्याय विधि का उद्धेश्य भी भिन्न है। नागार्जुन इसका प्रयोग परमार्थ (परमतत्त्व) विषयक परस्पर विरोधी अस्ति–नास्ति दृष्टियों की असत्यता (मिथ्यातत्व) प्रदर्शन करने के लिए करते है इसके विपरीत

शंकर इसका प्रयोग भेद द्वैत और विशेष (परिच्छेद) का खण्डन करने के लिए करते है और इस प्रकार इनका खण्डन कर हमे सन्मात्र ब्रह्म का बोध कराते है। जो कूटस्थ नित्य, सार्वभौम और स्वयसिद्ध है।

नागार्जुन किसी तत्वशास्त्र या दृष्टि का प्रतिपादन नही करते। वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि न तो मेरी कोई प्रतिज्ञा है औन न मेरी कोई दृष्टि है। दृष्टि की स्थापना 'अस्तिवादी' चिन्तन में रत होना है। दूसरे शब्दों में 'दृष्टिवाद' का सूत्रपात करता है। नागार्जुन के परमार्थ (परमतत्व) विषयक इस असिद्धान्तवाद अथवा 'अ–दृष्टिवाद' को विज्ञानवादी और अद्वैतवादी दार्शनिको ने अतत्ववाद समझ लिया ओर इस आधार पर सर्व–वैनाशिक 'शून्यवाद' कहकर उसकी भर्त्सना की। किन्तु ऐसी आलोचना 'शून्यवाद' के प्रति घोर अन्याय है।

नागार्जुन परमार्थ (परमतत्व) का निषेध नही करते अपितु तत्व सम्बन्धी सिद्धान्तो या दृष्टियों का। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापरामिता में नागार्जुन के इस प्रज्ञापारमिता सिद्धान्त का सुस्पष्ट शब्दो मे उद्घोष है कि सुभूति यह प्रज्ञापारमिता स्कन्धों, धातुओं अथवा आयतनों का संघात नहीं है इन सघातो के माध्यम से हम परमतत्व प्रज्ञापारमिता का दर्शन नहीं कर सकते।

पाल डायसन के अनुसार शकर के दर्श्न का उपनिषद के दर्शन से वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध फल का फूल से है वे कहते है कि "भारतीय प्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदों से अच्छा पुष्प और वेदान्त दर्श्न से अच्छा कोई फल नही है"। इस दर्शन तन्त्र का जन्म उपनिषदों की शिक्षाओं में ही हुआ और शंकर ने उसे इसके उत्कृष्टतम स्तर पर पहुॅचाया।

प्रोफेसर मैक्समूलर के अनुसार भी उपनिषदों मे शंकर के लगभग सभी बीज विद्यमान है। वे कहते है कि जब हम विचार करते है कि वेदान्त दर्शन के

सारभूत तत्वमीमासीय विचार कितने सूक्ष्म और गूढ है तो वह जानकर आश्चर्य होता है कि शंकर ने उनको या उनके बीजो को प्राचीन उपनिषदो में से खोज निकाला है। हम यह अस्वीकार नही कर सकते कि वेदान्ती दार्शनिको के बहुत से गूढ विचारो की जडें उपनिषदों में निहित है।

वे पुन कहते है कि वेदान्त दर्शन एक स्वतन्त्र दर्शन विधि है, यह उसकी एक असाधरण विशेषता है किन्तु यह दर्शन उपनिषदों पर पूर्णतः अवलम्बित है।

प्रोफेसर रानाडे के शब्दो मे वेदान्त दर्शन का उपनिषदो के दर्शन के साथ लगभग वैसा ही सम्बन्ध है जैसा अरस्तु और स्कूलमैन के दर्शन के बीच दिखाई देता है उनके अनुसार ब्रह्मसूत्र और उपनिषद वे आधार शिलाए है जिस पर समस्त वेदान्त दर्शन का भवन खडा है।

उपनिषदों को केवल शंकर के ही दर्शन का नहीं अपितु कभी कभी प्राय. सभी परवर्ती भारतीय दर्शनों का मूलस्रोत माना जाता है।

एडमाण्ड होम्स के अनुसार सभी युगो के भारतीय विचारक परिकल्पनात्मक विचारों के मूलस्रोत स्वरूप उपनिषदों के पास जाते है।

डा० राधाकृष्णन के शब्दों में उपनिषद वे आधार है जिन पर बाद के बहुत से भारतीय दर्शन और धर्म खडे है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम **प्रोफेसर आर० पी सिंह** के इस कथन से सहमत है कि शंकर के वेदान्तवाद ने बौद्धवाद से प्रेरणा प्राप्त नही की है। उसे बौद्धो जैसे शून्यवाद एवं प्रत्ययवाद से सम्बन्धित करना अनुचित है।

नागार्जुन और शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तो के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दोनो के दर्शन पूर्णरूप से स्वतन्त्र है और दोनो पर प्रत्यक्ष और परोक्षरूप में उपनिषदो का प्रभाव है किन्तु नागार्जुन बौद्धमतावलम्बी होने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया।

शकराचार्य भी विज्ञानवाद की कुछ ऐसी ही आलोचना करते है वे कहते है कि यदि चेतना और उसकी वस्तु दोनो एकाकार होते और उनमे कोई भेद न होता तो चेतना कभी किसी वस्तु से अलग होने मे समर्थ न होती। पुनश्च हमें घट का ज्ञान होता है और फिर पट का, तो दोनो बार चेतना वही रहती है किन्तु केवल चेतना मे विभेद उत्पन्न होने वाले लक्षणो मे परिवर्तन होता है। दो परिवर्तनीय कारको के द्वारा एक अपरिवर्तनीय कारक की उनसे भिन्नता निरन्तर सिद्ध होती रहती है और इसके विपरीत एक अपरिवर्तनीय कारक के द्वारा दो या अधिक परिवर्तनीय कारको की उनमे भिन्नता सिद्ध होती रहती है। अतः वस्तु और प्रत्यय भिन्न है। **'योहि येभु भवति स तद् व्यतिरिको भवत्येव'**

शून्यता का अर्थ सबका निषेध नहीं अपितु परमतत्व में सत् असत् के युगपद अस्तित्व का निषेध है। विज्ञानवाद के अनुसार अभूतपरिकल्पित (परमतत्व) का अस्तित्व है। केवल उसमे सत् असत् के युगपद अस्तिरव का अभाव है। यह शून्यता का भी आधार है। यह लोकोत्तर सार्जनकारी विज्ञप्तिमात्रता है। जो समस्त संवृत्ति–आत्मा, धर्म, कर्त्ता, और कर्म का अपने में से ही सृजन करती है। समस्त सम्बन्ध आन्तरिक हैं। जो इसमें विद्यमान है।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) विज्ञानवाद और अद्वैतवाद के उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचेगें कि इन तीनो में कुछ सामान्य विशेषताएं हैं।

अद्वैतवेदान्त 'भेद' के निराकरण पर बल देता है। भेद दृष्टि के निराकरण से अभेद–अद्वैत परमतत्व प्रकट होता है। ये सभी निकाय किसी न किसी रूप में परमार्थ और व्यवहार में भेद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है।

नागार्जुन सवृत्ति (१. तथ्यासवृत्ति, २. मिथ्यासवृत्ति) और परमार्थ मे भेद करते है। विज्ञानवाद परिकल्पित, परतत्र और परिनिष्पन्न मे भेद करता है। तथा अद्वैतवाद वेदान्त १ प्रातिभासिक, २. व्यावहारिक, ३. पारमार्थिक सत्य मे भेद करता हैं। ये सभी निकाय इस बात पर सहमत है कि परमतत्व का बोध भाषा और तर्को द्वारा नही हो सकता।

आध्यात्मिक साधना, समाधि और कठोर नैतिक नियमों के अनुसार जीवनयापन के द्वारा ही हमें परमसत्य का साक्षात्कार हो सकता हैं। इस प्रकार के जीवन के फलस्वरूप प्रज्ञा का उदय होगा। जिसके फलस्वरूप हमे पूर्णरूप से मुक्ति (निर्वाण) की प्राप्ति होगी। और हम ब्रह्मस्वरूप परमार्थ स्वरूप हो जायेंगें। अभी तक हमने उपर्युक्त तीनों निकायो शून्यवाद, विज्ञानवाद, और अद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्तो मे पाई जाने वाली सामान्य भिन्नताओ का विवेचन किया है अतएव उनमें पाई जाने वाली भिन्नताओ का विवेचन करेगे, जिनके फलस्वरूप ये निकाय एक दूसरे से पूर्णरूप से पृथक है।

उपर्युक्त तीनों निकाय **'भ्रम'** का निराकरण करते है किन्तु भ्रम के स्वरूप और भ्रम के निराकरण की विधा मे पर्याप्त अन्तर है।

विज्ञानवाद और अद्वैतवेदान्त अनुभव जन्य भ्रम रज्जुसर्प अथवा स्वप्न के विषय से दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करते है और जगत् भ्रम तक इस प्रक्रिया को पहुंचाते है। इन दार्शनिको के अनुसार जिस प्रकार अन्धकार में हमें रस्सी मे सांप की प्रतीति होती है किन्तु सांप का अस्तित्व नहीं, हमने अन्धकार के

फलस्वरूप रस्सी पर आरोपित कर दिया है। उसी प्रकार स्वप्न में जगत् के विषय नहीं है। किन्तु मन प्रसूत विषय हमे वास्तविक विषय से लगते हे।

इसी प्रकार अनुभवमूलक जगत का स्वतः अस्तित्व नहीं है किन्तु अविद्यावश हमने परमतत्व ब्रह्म पर जगत् को आरोपित कर दिया है।

रज्जुसर्प के भ्रम से अनिवार्यत यह निष्कर्ष नही निकलता कि समस्त अनुभवमूलक जगत् भी इसी प्रकार का है। हम निष्कर्ष पर पहुचने के लिए वेदान्त श्रुति (वेद) का सहारा लेते है जहॉ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि **मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है और जगत मिथ्या है। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या ।**

श्रुतियोनित्वात् साथ ही यह भी उपदिष्ट है कि परमतत्व के बोध के लिए आचार्य के पास जाना चाहिए और आचार्यवान पुरूष इस परमतत्व को जान सकता। **तत्विज्ञानार्थगुरूम् एताभिगच्छेत् तथा आचार्यवान पुरूषों वेदो ।**

इसके विपरीत विज्ञानवाद शब्द प्रमाण या ब्रह्मवचन से इस निष्कर्ष पर नहीं पहुचता। वह समाधियों और भूमियो की अनुभूति के आधार पर परमतत्व का साक्षात्कार करता है। जहॉ विषयता का धीरे–धीरे तिरोभाव हो जाता है। और असंज्ञि अथवा निरोध समापत्ति की अवस्था मे यह बोध होता है कि चित्त या विज्ञप्तिमात्रता एकमात्र परमतत्व है। और जगत इस पर आरोपित अध्यासमात्र है। **'चित्त मात्रं भो जिनपुत्रा यदुता भैधातुकम् इति वचनात्।।**

नागार्जुन न तो श्रुति का सहारा लेते है और न तो चित्त समापत्ति आदि दश भूमिओ का। वह अनुभवजन्य **भ्रम** के स्थान पर अनुभवातीत (लोकोत्तर) भ्रम से प्रारम्भ करता है जो विविध दृष्टियो और दार्शनिक सिद्धान्तो के अपरिहार्य संघर्ष के फलस्वरूप प्रकट होता है। वह प्रत्यक्ष रूप में परमतत्व के सबंध मे

प्रचलित दृष्टियो (सिद्धान्तो) की समीक्षा करता है। और परोक्षरूप से परमतत्व पर पहुँचता है।

अत. माध्यमिक (नागार्जुन) की विधि पूर्णरूप मे अनुभव की समीक्षा है। यहाँ द्वन्द्वन्याय समीक्षा दर्शन है इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त मे द्वन्द्वन्याय दर्शनशास्त्र की सेवा में संलग्न है। उसका कार्य दार्शनिक चिन्तन में सहायक होना है। निषिद्ध वस्तु क्या है, दूसरे शब्दों में वह कौन सी वस्तु है जिसका निषेध किया जाता है।

यदि हम भ्रम के स्वरूप को इस रूप में रखे कि 'यह सर्प है' तो इसका निषेधक विज्ञान का स्वरूप होगा यह सर्प नही है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार नहीं का प्रयोग 'सर्प' के लिए है। यह सर्प नहीं है का अर्थ है कि 'यह' तो सत्य है किन्तु इस पर 'सर्प' का आरोपण गलत है। विज्ञानवाद के अनुसार 'नही' का प्रयोग 'यह' के लिए है सर्प यह नहीं है का अर्थ है कि सर्प। इसके रूप में नही है अर्थात् विकल्पात्मक विज्ञान के आरोपण व्यवहार से स्वतन्त्र वस्तु के रूप में इसका अस्तित्व नही है।

दूसरे शब्दो में अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह 'सत्' ब्रह्म न वास्तविक है और आरोपक विकल्पात्मक विज्ञान की सृष्टि होने के नाते 'सर्प' परिकल्पित या प्रातिभासिक है, दूसरे शब्दों में विज्ञानवाद में इस वाक्य की स्थिति अद्वैतवेदान्त में ठीक उल्टी है। विज्ञान से पृथक अस्तित्व के रूप में 'यह' परिकल्पित वस्तुमात्र हैं। अर्थात यह प्रतीतिमात्र हैं और सर्प की वास्तविक सत्ता हैं। क्योकि यह विकल्पात्मक विज्ञान की विकल्पना की एक विद्या है।

किन्तु अद्वैतवेदान्त और विज्ञानवाद दोनो में 'यह' सामान्य रूप से विद्यमान है। अन्तर यह है कि भ्रम के परिप्रक्ष्य मे अद्वैतवेदान्ती 'सर्प' को प्रतीति

मानकर उसका निषेध करते है और 'विज्ञानवादी' 'इस' का। विज्ञानवादी कहता है कि यह पूर्णरूपेण मिथ्या है (स्वरूपतो मिथ्या–परिकल्पित) है।

येन येन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्यते।

परिकल्पित एवासौ स्वभावों न स विद्यते।। त्रिंशिका २०

प्रथम लक्षणेनैव निःस्वभाव----------------- । वही पृ० २३

उतिश्च स्वरूपा भावात् पुरूषवत् स्वरूपेणैव निःस्वभाव ।। वही पृ० ४१

किन्तु अद्वैतवेदान्ती और विज्ञानवादी दोनो ही उपर्युक्त वाक्य के एक अंश को सही मानते है। अद्वैतवेदान्ती 'सर्प' को और विज्ञानवादी 'इस' को। उनके अनुसार यह प्रतीति (संवृत्ति) सें संसर्ग (सबंध) होने के कारण मिथ्या है। (संसर्गतो मिथ्या)। विज्ञान या चेतना (परतन्त्र) परिकल्पित से संसर्ग के कारण मिथ्या है, किन्तु स्वरूपत. यह परिनिष्पन्न–परमार्थ ही है। दोनो एक रूप है इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है।

तार्किक दृष्टि से विचारने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि 'संम्बन्ध' मिथ्या हो सकता है। किन्तु जिन पदो को वह जोडता है, वे दोनो मिथ्या नहीं है उनमे से एक मिथ्या है और अन्य पूर्णरूप से वास्तविक है। दूसरे शब्दो गें सम्बन्ध को जोडने वाले दोनो पद एक ही कोटि के नहीं है उनमे से एक उच्चतर कोटि का है और अन्य निम्नतर कोटि का, दोनो पद न तो परस्पर परतन्त्र है और न परस्पर स्वतन्त्र हैं सम्बन्ध न तो आन्तरिक और न बाह्य।

यदि दोनों पद परस्पर परतन्त्र हैं तो उन पदो को हम अलग नहीं कर सकते। हम उनके विषय में यह भी नही कह सकते है कि वे दोनो भिन्न पद है क्योंकि भेद का आधार ही नही अगर वे परस्पर स्वतन्त्र हैं तो उनके सम्बन्ध का आधार ही नहीं है क्योंकि दोनो स्वप्रतिष्ठित सत्ताएं है। इस द्विविधा से

बचने के लिए हमे यह मानना पडेगा कि दोनो पदो मे से एक को आधार और दूसरे को आधेय मानना पडेगा जिनमे आधार स्वतन्त्र होने के नाते आधेय से पृथक् भी रह सकता है किन्तु आधेय परतन्त्र होने के नाते आधेय से पृथक रूप में नही रह सकता।

किन्तु नागार्जुन (माध्यमिक) रज्जुसर्प दृष्टान्त की व्याख्या अद्वैत वेदान्त और विज्ञानवाद दोनो से ही पृथक और स्वतन्त्र रूप से करता है। उसके अनुसार 'निषेध' (नहीं) दोनों पदों 'यह सर्प नही है' में समान रूप से लागू होता है। 'यह' सर्प से पृथक् रूप मे नही सोचा जा सकता क्योकि 'यह' सर्प के तदाकारता के रूप में ही जाना जाता है उसमे पृथक रूप में नही। इस प्रकार 'सर्प' का भी ज्ञान 'यह' की एकरूपता से ही होता है उससे पृथक रूप में नही। ये दोनो सापेक्ष या प्रतीत्य समुत्पन्न है इसलिए मिथ्या है।

माध्यमिक (नागार्जुन) की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उसका किचित विस्तृत विवेचन आवश्यक है नागार्जुन का कथन है कि किसी 'सम्बन्ध' से सम्बद्ध दोनो ही पद मिथ्या है क्योकि परस्पर सम्बद्ध होने के कारण उनका कोई स्वभाव नही है। उनकी सापेक्षता ही उनका मिथ्यात्व सिद्ध करती है।
तस्तत्प्रायृय यदुत्पन्नं नोत्पन्नं तत्स्वभावतः।

इसके विपरीत अद्वैतवेदान्ती और विज्ञानवादी दोनो पदो को समानरूप से परतंत्र या सापेक्ष नही मानते। वे उनमें से एक आधार (परमतत्व) और दूसरे को आधेय मानते है। माध्यमिक का कथन है कि द्रव्य और गुण समान रूप से मिथ्या है क्योंकि वे एक दूसरे से पृथक रूप में नही सोचे जा सकते। किन्तु अद्वैतवेदान्ती का यह कथन है कि गुण द्रव्य पर आरोपित है। द्रव्य से पृथक

और स्वतन्त्र रूप मे उनकी सत्ता नही है वे विराट सत् स्वरूप परमार्थ का निषेध करते है।

अत. वे स्वभाव से मिथ्या है (स्वरूपतो मिथ्या) किन्तु द्रव्य या सामान्य स्वभावतः सत्य है उसका गुणो या विशेषो से प्रतीयमान सम्बन्ध मिथ्या है (ससर्गोमिथ्या) इसका एक लोकोत्तर अथवा इन्द्रियातीति स्वरूप है जो सम्बन्धातीत है संक्षेप में उपर्युक्त तीनो निकायो की स्थिति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है।

अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म शुद्ध सत् है और इसके साक्षात्कार की विधि (प्रणाली) ज्ञानमीमांसात्मक है। विज्ञानवाद की विज्ञप्तिमात्रता शुद्ध क्रिया (इन्द्रियातीत विकल्पना) है और इसके साक्षात्कार की विधि विज्ञानपरक है।

नागार्जुन की शून्यता प्रज्ञा या अद्वयानूभूति है और इसके साक्षात्कार की विधि समीक्षा या शून्यता दृष्टि है। यह वस्तु रिक्तता या दृष्टिरिक्तता की अवस्था है। वस्तुतः अद्वैतवेदान्त का ब्रह्मन् और विज्ञानवाद की विज्ञप्तिमात्रता भी वस्तुरिक्तता की अवस्थाए है, क्योंकि शुद्ध सत् (ब्रह्मन) या विज्ञप्तिमात्रता के दर्शन में इनसे पृथक और अन्य कोई दूसरी सत्ता है नही जिनसे इनको पृथक किया जा सके अथवा जिनको इन पर आरोपित किया जा सके क्या ऐसी स्थिति इन्हे ब्रह्मन या विज्ञप्तिमात्रता अथवा कोई दूसरी सज्ञा दी जा सकती है? ।

वस्तुतः किसी भी सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित निरपेक्षवाद (Absolutism) का अवसान माध्यमिक दर्शन के 'अप्रतिज्ञावाद' में होता है। उनकी गन्तव्यविधि और चिन्तन प्रणाली में भले ही भेद हो किन्तु गन्ताव्य (परमतत्त्व) एक ही होता है

उसे चाहे हम अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्मन की सज्ञा दे, विज्ञानवाद मे विज्ञप्तिमात्रता कहे।

नागार्जुन में शून्यता या अद्वयतत्व कहे अथवा पाश्चात्य दर्शन की भाषा में स्पिनोजा का द्रव्य काण्ट का नाउमेना या हेगल और उसके अनुयायी ब्रैडले आदि का निरपेक्ष तत्त्व (Absolute)। काण्ट के प्रस्थान बिन्दु की दृष्टि से यदि हम विवेचन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि ये उपर्युक्त तीनो ही निरपेक्ष दर्शन अत्यन्त सुव्यवस्थित दर्शन है जिनकी मांग और सकेत तो काण्ट के दर्शन मे विद्यमान है किन्तु जिनका परिपक्वरूप वहॉ न विकसित हो सका।

काण्ट की शुद्ध बुद्धिमीमांसा में दो स्पष्ट प्रवृत्तियां देखने को मिलती है। इनिद्रयातीत विश्लेषणात्मकमें संरचनात्मक प्रवृत्ति और इन्द्रियातीत द्वन्द्व न्याय मे समीक्षात्मक या द्वन्द्वन्यायत्मक प्रवृत्ति। 'विश्लेषणात्मक' से काण्ट अनुभव का संरचनात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है जो दो स्वतन्त्र क्षेत्रो में विद्यमान घटकों को सम्मिश्रण (Compantıon) है और एक ओर तो प्रागनुभविक वर्गणाएं है जो मस्तिष्क में सहजात रूप में विद्यमान है और दूसरी सर्वथा विद्यमान स्वतः सद्‌वस्तु (----) है जिसकी व्याख्या प्रागनुभविक की पदावली में ही की जाती है।

हेगल और अन्य दार्शनिको की समालोचना के बावजूद हम इन में से किसी का भी परित्याग करने की स्थिति में नहीं है। समीक्षी की मांग यह है कि हम इनमे से किसी को भी एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में इन्द्रयातीत अनुभव करे। हमें शुद्ध स्वतः सदृवस्तु की इन्द्रियानुभव निरपेक्ष रूप में बुद्धि की वर्गणाओ की सहायता के बिना अनुभूति करना चाहिए इसी प्रकार हमें सदवस्तु की सहायता के बिना बुद्धि की वर्गणाओं की अनुभूति करनी चाहिए।

दूसरे शब्दो में काण्ट की समीक्षा दर्शन की यह तार्किक परिणति है कि यदि इन्द्रियजन्य अनुभव दो सघटको की संघात है तो इन दोनो सघटको को एक दूसरे से स्वतन्त्र और पृथक रूप मे प्राप्त होना चाहिए नहीं तो दोनो घटकों के एक होने के कारण उनके सघात का प्रश्न ही नहीं उठता।

नागार्जुन का शून्यवाद दर्शन के अवकाश में पुच्छल तारे की भाति न तो सहसा उत्पन्न हुआ और सहसा अस्तगत हुआ। जहॉ इसका **उत्स** प्राचीनतम् साहित्य, वेद, उपनिषद, त्रिपिटक, और महायान सूत्रों मे है वहीं इसका अस्तित्व आज तक विद्यमान है।

इस प्रकार दो हजार वर्षो का झझावत सहकर भी अपने यथावत् स्वरूप में विद्यमान है। मुस्लिम आक्रमणकारियो के कारण भले ही इसे स्वदेश छोड़ना पडा हो किन्तु तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, और मंगोलिया में अपने शुद्ध रूप में विद्यमान है।

शान्तरक्षित और कमलशील ने शून्यवाद निकाय को एक नया मोड़ दिया। इन दार्शनिको ने सौत्रान्तिक दर्शन योगाचार विज्ञानवाद तथा माध्यमिक दर्शन में समन्वय स्थापित किया। यह विचारक व्यवहार या अनुभवमूलक जगत की व्याख्या के लिए सौत्रान्तिक दर्शन और योगाचार का सहारा लेते है और परमार्थ के विवेचन में माध्यमिक शून्यता तथा विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि का।

भारत ही नहीं एशिया के अनेक देश बौद्ध शून्यवाद से पूर्णरूप से प्रभावित है। तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया और कोरिया के मठों में आज भी शून्यवाद समन्वित बौद्ध दर्शन का अध्ययन कराया जाता है। और जनता इसी को अपना धर्म मानती है।

हिन्दू तत्व ही नहीं अपितु वैदिक (आस्तिक) दर्शन के अनेक सम्प्रदाय शून्यवाद से प्रभावित है।

शंकराचार्य के बाबा गुरूगौडपाद शून्यवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। गौडपाद का ऐतिहासिक ग्रन्थ माण्डूक्य कारिका और विशेष रूप रो इसका चतुर्थ अध्याय 'अलातशान्तिप्रकरण' शून्यवाद की ही भाषा और सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता है। वे स्पष्ट शब्दो मे घोषित करते है कि द्वैत मिथ्या है और अद्वैत परमार्थ है। जीव और ब्रह्मन् मे तादात्म्य है दोनो एक है। भेद उपाधिकृत है।

ब्रह्मन से किसी प्रकार की परिणाम सृष्टि नही होती है। शास्त्रो में जो सृष्टि के वर्णन है वे जीव और ब्रह्मन की एकरूपता प्रदर्शित करने के लिए है।

माण्डूक्यकारिका ओर बौद्ध शून्यवाद की समानता को तीन भागो में बॉटा जा सकता है–

(१) तकनीकी शब्दावली जिनका महत्वमात्र बौद्ध दार्शनिको के ग्रन्थो में है उदाहरण के लिए संवृत्तकल्पित, संवृतपरमार्थ, धर्म, बुद्ध, द्विपदाबंर, संबुद्ध, प्रज्ञप्ति, संक्लेश आदि,

(२) माण्डूक्यकारिकायें (श्लोक) ओर माध्यमिक कारिकाएं एक जैसी है उदाहरण के लिए स्वतो वा परतो वा (मा०कारिका४.२२) हेतोरादिः फलम् (वही ४.१५) कोटयः चतसुः (वही ४ ८४) अभूताभिनिवेशोऽस्तिद्धयं तत्र न विद्यते, (वही ४.७५)

(३) सिद्धान्तो में एकरूपता अजातिवाद चतुष्कोटि सिद्धान्त इन सबसे हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि गौड़पाद माध्यमिक और योगाचार सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में वेदान्त को अद्वैत का स्वरूप प्रदान कर रहे थे।

श्री हर्ष ने खण्डन खण्ड खाद्य मे माध्यमिक विधि का प्रयोग किया है और उसकी शब्दावली भी ग्रहण की है। भास्कराचार्य और अन्य वेदान्तियो ने शकराचार्य और उनके अनुयायियो पर प्रच्छन्न बौद्ध होने तथा 'महायानीयनय' को वेदान्त में प्रवेश करने का आरोप लगाया है।

शान्तरक्षित और कमलशील ने तो यहॉ तक कहा है कि अद्वैतवेदान्त और हमारे दर्शन में तनिक भी भेद नही है मात्र उनका अपराध यह है कि उन्होने परमतत्व को नित्य कहा है। किन्तु श्री हर्ष और अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने शान्तिरक्षित आदि पर भी यही आरोप लगाया है कि वे मेरी ही बात कह रहे है मात्र भेद है कि उन्होने कूटस्थ नित्य परमतत्व को क्षणभंगुर और अनित्य कह दिया है।

शान्तरक्षित के बार–बार यह घोषित करने से कि यह ज्ञान कृष्ण ने नही दिया, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे यह लग रहा था कि हमारा सारा दर्शन गीता मे उपदिष्ट दर्शन जैसा ही लग रहा है।

शकराचार्य अद्वैत वेदान्त के पूर्ण माध्यमिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित सवृत्ति और परमार्थ, नीतार्थ और नेयार्थ और भ्रम के सिद्धान्त विद्यमान थे हो सकता है कि शंकर और अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने इसके आधार पर उपनिषदों का पुन अध्ययन किया हो और उनमें निहित गूढ़ अर्थ को हृदयंगम कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की हो किन्तु माण्डूक्यकारिका और अन्य अद्वैत ग्रन्थों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक शून्यवाद और विज्ञानवाद की तर्क प्रणाली से भले प्रभावित हुए हो और उसे ग्रहण भी किया है। किन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्त अपने है उस पर बौद्ध सिद्धान्त का तनिक भी प्रभाव नही है।

प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य गौड़पाद की समग्र कारिका का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस ग्रन्थ के चारो अध्याय १. आगम २. वैतथ्य, ३.अद्वैत ४. अलात शान्ति ।

स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिन्हे किसी दार्शनिक ने एकीकृत कर 'आगमशास्त्र' का नाम दे दिया है।

इस आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि अद्वैतवेदान्त और नागार्जुन दोनो एक दूसरे से बिल्कुल नही प्रभावित हुए, क्योकि दोनो की परम्पराओं और तत्व चिन्तन की पृष्ठभूमि नितान्त भिन्न है। अद्वैतवेदान्त का मूलस्रोत उपनिषद है जो पूर्णरूप से आत्मवादी (ब्रह्मवादी) है। इसके विपरीत नागार्जुन और उनका दर्शन पूर्णरूप में अनात्मवादी है।

अध्याय ५

उपसंहार

भारतवर्ष में दर्शन सम्भवतः जीवन से कभी विच्छिन्न नहीं रहा है भारतीय दर्शन में ऐसा कोई दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है। जो जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित न हो। शकर का ब्रह्मवाद भी इसका अपवाद नहीं हैं। भारत के अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति इसमें न केवल मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श पर विचार किया गया है, बल्कि उसको प्राप्त करने का उपाय भी बताया गया हैं।

शंकर का ब्रह्मवाद उन लोगो को भले ही पसन्द न हो जो संसार के नानात्व और सांसारिक मूल्यों में आस्था रखने वाले अपने सतही विचारों का समर्थन किसी दर्शन से करना चाहते हैं, किन्तु जिन लोगों के मन और मस्तिष्क की भूमि इसके अनुकूल है, उन्हे यह दर्शन रूचिकर लगता है, और इसमें उन्हे अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे लोगो की सँख्या भले ही कम हो, किन्तु उपेक्षणीय कदापि नहीं। कभी–कभी यह कहा जाता हैं।

ब्रह्मवाद समाज में क्रियात्मक जीवन के लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि वह संन्यासी जीवन को अत्यधिक महत्व देता हैं, किन्तु **स्वामी रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द, और स्वयं शंकर** जैसे अनेक ब्रह्मवादियों का कर्मपरायण जीवन इसका जीवन दृष्टान्त है कि अद्धैतवाद एक विचार पद्धति होने के साथ–साथ एक जीवन पद्धति भी हैं।

मिल्टन के अनुसार "सेवा तो वे करते हैं, जो खड़े–खड़े प्रतीक्षा करते हैं"। इसमें हम इतना और जोड़ सकते है, कि दार्शनिक और उनमें शंकर जैसे ब्रह्मवादी केवल खड़े–खडे प्रतीक्षा ही नहीं करते, बल्कि मानव समाज के

कल्याणके लिए वास्तविक योगदान करते है जहाँ तक ससार की सामान्य बातों से प्राप्त होने वाले स्थूल सुख का प्रश्न है, उससे इन दार्शनिको, वैज्ञानिको और कलाकारो को अनासक्त रहना ही पडेगा, तभी वे अपने क्षेत्र मे कुछ उपलब्धि प्राप्त कर सकेगे। इस त्याग भाव के कारण सामाजिक मूल्यो के कार्यो को करने में न कोई बाधा है और न कोई हानि।

शंकर का ब्रह्मवाद रहस्यवाद मात्र नहीं है विचार या तर्क के द्वारा सत् का अव्यवहित ज्ञान शकर को मान्य न होने के कारण और साथ ही उसकी अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता पर बल देने के कारण लोग कभी-कभी यह समझने लगते है कि वे रहस्यवादी है।

प्रोफेसर एम० एन० सिरकार के अनुसार रहस्यवादी एक बड़ा साहसी होता हैं। वह सत् के विषय में परम्परागत विधि से विचार करना छोड बैठता है, अपने को विचारों और प्रत्ययों से रिक्त कर लेता है, और दैवी अनुग्रह से प्राप्त होने वाले प्रकाश की प्रतीक्षा करने लगता है। वह एकान्त मे जीवन के आश्चर्यजनक रहस्यो को प्राप्त करने के लिए अपने को इन्द्रिय सवेदनाओ सें मुक्त कर लेता हैं, और बुद्धि के विचारों को शामिल कर देता है। **शंकर एक दक्ष तार्किक है, और उनका ब्रहमवाद सूक्ष्म तर्को पर आधारित हैं ।**

उनके दार्शनिक विवेचन को नि.सदेह एक उच्च स्थान प्राप्त हैं। रहस्यवादी अपने विचारों को बुद्धिगम्य बनाने की चिन्ता नहीं करते है। हम देखते है कि शंकर के विचार और तर्क की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन के लिए नहीं, बल्कि आत्म साक्षात्कार या परम तत्त्व को जानने के लिए भी स्वीकार करते है। अतः उन्हें रहस्यवादी कहकर उनकी निन्दा करना उचित नहीं है ।

कठोपनिषद भाष्य मे उन्होने कहा है, कि उचित–अनुचित या सत्–असत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास बुद्धि ही सर्वोत्तम साधन हैं ।[1]

शंकराचार्य के अनुसार सत् ज्ञान के अन्वेषक को शास्त्रानुकूल तर्क का अभ्यास करना चाहिए। उनके अनुसार कोई भी विचार तभी स्वीकार किया जा सकता हैं, जबकि वह किसी प्रमाण द्वारा समर्थित हो ।

शंकर ने परम सत् या ब्रहम के अब्यवहित ज्ञान के लिए तर्क बुद्धि को अक्षम माना है किन्तु तर्क बुद्धि की प्रकृति को देखते हुए ऐसा कहना ठीक ही है, जब तर्क से हम नित्य प्रत्यक्ष में आने वाली ससीम वस्तुओ का अब्यवहित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, तो फिर हम असीम सत् को उसके द्वारा कैसे जान सकते है, वह तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी परे है। तर्क का आधार इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही हैं ।

अतः हम कह सकते है कि शंकर वस्तुतः रहस्यवादी नहीं है । उनके ब्रहमवाद मे तर्क को बडा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

शून्यवाद और अद्वैतवाद का मूल्यांकन

माध्यमिक शून्यवाद और शंकराचार्य के अद्वैतवाद के इस विवेचन से स्पष्ट है, कि शॅंकराचार्य के दार्शनिक विवेचन की विधि माध्यमिको की विधि से प्रभावित हैं।

यद्यपि शंकराचार्य ने जहाँ दार्शनिक सम्प्रदायों की कटु आलोचना की वहीं माध्यमिकों के शून्यवाद को सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध कहकर उसकी उपेक्षा

---

१. बुद्धिर्हि: न प्रमाणं सद्सतोयार्थात्म्यांवगंमे । शां० भा० कठ० उप० ६/१२.
सद्सती बुद्धितन्त्रे – शां० भा० गीता २/१६.

किया। किन्तु शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक विवेचन में पर्याप्त मात्रा में नागार्जुन की द्वन्द्वात्मक विधि का अनुसरण किया आगे चलकर परवर्ती वेदान्तियो ने द्वन्द्वात्मक विधि का अत्यधिक प्रयोग अपने दर्शन में किया ।

कुछ आलोचको का यह मत कि शंकर की विधि का मूल उत्स उपनिषद् है, किन्तु शंकराचार्य के द्वारा प्रयुक्त विधि उपनिषदो मे उपलब्ध नहीं होती हैं यह धारणा भी ठीक नहीं है, कि शकर को यह विधि गौड़पाद से प्राप्त हुई थी। यदि इसे सत्य भी मान लिया जाए तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि गौड़पादाचार्य नागार्जुन से प्रभावित थे। अत· परोक्ष में परम्परागत रूप से शंकराचार्य के दर्शन पर नागार्जुन का प्रभाव पडा है।

उल्लेखनीय है कि शंकर ने सत्ता का विवेचन तीनरूपों में किया है जिसे क्रमश· प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य कहा जा सकता हैं। सत्ता का यह त्रिविध विभाजन नागार्जुन के दर्शन में पहले से किया गया था। इससे स्पष्ट है कि इस त्रिविध विभाजन में आचार्य नागार्जुन से शंकराचार्य अवश्य प्रभावित हुए है। नागार्जुन के अनुसार केवल परम सत् ही नहीं है वरन् इस प्रपंञ्चात्मक विश्व का सापेक्ष सत्य अथवा लोक संवृत्ति सत्य भी है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय भ्रम विभ्रम (तथ्यसंवृत्ति–मिथ्यासंवृत्ति) इत्यादि भी है। जिसका साधारण अनुभव में बाध हो जाता है और शशश्रृंग की भाँति नितान्त अनस्तित्व भी है।

इससे स्पष्ट है कि नागार्जुन के दर्शन में शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित सत्ता का त्रिविध वर्गीकरण प्रतिपादित है इससे स्पष्ट है कि यह मान्यता

निराधार नहीं है कि शंकराचार्य सत्ता त्रिविध वर्गीकरण मे आचार्य नागार्जुन से प्रभावित है ।

इस शोध प्रबन्ध मे किये गये विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ विद्वानो के अनुसार माध्यमिक शून्यवाद (नागार्जुन) अद्वैतवाद (शंकराचार्य) दोनो के तात्विक विचार उपनिषदों से लिए गये है, यदि शंकराचार्य ने माध्यमिको के द्वारा प्रयुक्त दार्शनिक पद्धति और शब्दावली को अपनाया है, जो यह एक प्रकार का स्वाभाविक प्रभाव है। अपने पूर्ववर्ती दर्शन साहित्य और विचारधाराओं से प्रभावित होना मानव चिन्तन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

अतः साहित्यिक और सॉस्कृतिक परिस्थितियों के कारण विभिन्न विचारकों के सामान्य विचार का होना कोई असामान्य बात नहीं है। कभी–कभी विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से समान प्रकार की विचारधारा विकसित हो सकती है। अतः वेदान्तवादी आलोचकों एवं समीक्षको ने शंकर को नागार्जुन की अपेक्षा उपनिषदों का ऋणी माना है।

ब्रहमसूत्र भाष्य के प्रारम्भ में शंकराचार्य यह स्पष्ट रूप से कहते है कि समस्त वेदान्त का आरम्भ सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) और व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) का तादात्म्य सिद्ध करने के लिए होता है ।

किन्तु नागार्जुन अपनी माध्यमिक कारिका एवं अन्य ग्रन्थो मे इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं करते हे ।

नागार्जुन का अद्वय वह ज्ञान है, जो विचार की चतुष्कोटियों से ऊपर उठने की बात करता है यह वह ज्ञान है, जो बौद्धिक कोटियों के अन्तर्विरोधो से परे है। अतः चतुष्कोटियॉ उस पर लागू नहीं होती है। इसके विपरीत शंकराचार्य का अद्वैत ब्रह्म सन्मात्र की अपरोक्षानुभूति है। जहॉ आत्मा और ब्रहम

की एकता स्थापित होती है। यह समस्त अन्तर्विरोधो से परे है। वस्तुत नागार्जुन का अद्वय और शंकर का अद्वैत पर्याय नहीं हैं क्योकि अद्वय का विवेचन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से किया गया हैं, जबकि अद्वैत की अवधारणा तात्विक है। इसके अतिरिक्त माध्यमिक और अद्वैत वेदान्तियो के द्वारा प्रयुक्त तर्क प्रद्वति का प्रयोजन एक दूसरे के विपरीत है। माध्यमिकों ने द्वन्द्वन्याय का प्रयोग परमार्थ से सम्बन्धित परस्पर विरोधी दृष्टियों या कोटियों की असत्यता को प्रदर्शित करने के लिए किया है। किन्तु शंकराचार्य ने इस पद्धति का प्रयोग भेद—द्वैत और विशेष का निराकरण करने के लिए किया है। इन भेदों का खण्डन हो जाने पर उस पारमार्थिक सत्ता का बोध हो जाता है। जो कूटस्थ नित्य सार्वभौमिक सत्य है, स्वयँ सिद्ध है, उल्लेखनीय है, कि नागार्जुन स्पष्ट रूप से किसी तात्विक दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करते है।

माध्यमिक यह दावा करता है कि उसकी न कोई दृष्टि है न कोई प्रतिज्ञा हैं, क्योकि दृष्टि को स्वीकार करना दृष्टिवाद का सूत्रपात करना है। माध्यमिकों के इस अदृष्टिवाद को अद्वैतवादियों ने अतत्त्ववाद समझकर इसे सर्ववैनाषिक सूत्रवाद कहा तथा इसकी कटु निन्दा किया है।

यद्यपि माध्यमिक शून्यवाद की अद्वैत वेदान्तियो द्वारा की गयी आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। तथपि इससे दोनों विचारधाराओं के मध्य अस्पष्ट मतभेद का संकेत मिलता हैं।

भारतीय विद्वानों के साथ—साथ अनेक पाश्चात्य विचारक स्वीकार करते है, कि अद्वैत वेदान्त उपनिषद् दर्शन का उत्कृष्ट रूप है। इस सन्दर्भ में पाल डायसन् एवं मैक्समूलर का मत उल्लेखनीय है पाल डायसन् के अनुसार वेदान्त

के दार्शनिक निकाय का प्रादुर्भाव उपनिषदों की शिक्षाओ मे हुआ। और आदि शंकराचार्य ने इसे उत्कृष्टतम रूप प्रदान किया।

इसी प्रकार **मैक्समूलर** कहते है, कि जब हम विचार करते है, कि वेदान्त दर्शन के मूलभूत तात्विक विचार कितने सूक्ष्म और गूढ है। तो यह जानकर आश्चर्य होता है। कि शंकराचार्य ने उन विचारो को प्राचीन उपनिषदों में से खोज निकाला है। अतः इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कि वेदान्त दर्शन के गहन विचारों की जडे उपनिषदो मे निहित है।

इससे स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त की विचारधारा माध्यमिक दर्शन रो स्वतन्त्र एक दार्शनिक विधि है। यह उसकी एक असाधारण विशेषता है, जो पूर्णतः उपनिषदों पर आश्रित है। आचार्य शकराचार्य ने श्रुति के मत को तर्क पुष्ट करने का भी प्रयास किया है वे कहते है । **तर्केणापिज्ञातुं शक्यते।**

प्रोफेसर आर० डी० रानाडे के अनुसार उपनिषदो में केवल शंकराचार्य के दर्शन का ही नहीं बल्कि सभी परवर्ती दर्शन का जनक माना गया है। वस्तुतः सभी युगों में भारतीय विचारक किसी न किसी रूप मे अपने परिकल्पनात्मक चिन्तन के लिए उपनिषदों के ऋृणी रहें है। यहॉ तक कि ब्राह्मण परम्परा के साथ–साथ श्रमण परम्परा पर भी. उपनिषदों का प्रभाव परिलक्षित होता हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हैं कि नागार्जुन एवं शंकराचार्य में दार्शनिक विचार एक दूसरे से स्वतन्त्र है इन दोनों ही विचारकों के ऊपर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपनिषदों का प्रभाव है कि नागार्जुन बौद्ध मतावलम्बी होने के कारण स्पष्ट रूप से उपनिषदों की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन विशेष रूप से माध्यमिक शून्यवाद का प्रभाव न केवल भारत में बल्कि सम्पूर्ण एशिया के अनेक देशो की सँस्कृति पर पड़ा है। तिब्बत, चीन,

जापान, मंगोलिया और कोरिया के मठो में माध्यमिक बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया जाता हैं। वहाँ के लोग इसे ही अपना धर्म मानते है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म एवं अन्य वैदिक दर्शन ही शून्यवाद से प्रभावित है।

प्रायः कहा जाता है कि आचार्य गौडवाद शून्यवाद से बहुत प्रभावित थे गौडपाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ माण्डूक्य कारिका शून्यवाद की ही भाषा और सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता है। इस सन्दर्भ में माण्डूक्य कारिका का चतुर्थ अध्याय अलात् शान्ति प्रकरण उल्लेखनीय है वहाँ कहा गया है। **मायामात्रमिदं सर्वम् अद्वैत परमार्थतः।**[1]

जीव और ब्रह्म में तादात्म्य हैं। समस्त भेद उपाधि है ब्रह्म से किसी की सृष्टि नहीं होती है शास्त्रो में वर्णित सृष्टि का स्वरूप जीव और ब्रह्म की एकरूपता प्रदर्शित करने के लिए है।

माण्डूक्य कारिका में प्रयुक्त प्रारिभाषिक शब्दावली जैसे संवृन्त, परमार्थ, धर्म, बुद्ध, संबुद्ध, प्रज्ञप्ति आदि बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों से लिया गया है इसी प्रकार माध्यमिक कारिका एवं माण्डूक्य कारिका के अनेक श्लोको में समानता पाई जाती है। **श्वतो वा परतो वा (माध्यमिक कारिका ४.२२)**

इत्यादि इस प्रकार दोनों दार्शनिको के सिद्धान्तों में एक रूपता, अजातिवाद, चतुष्कोटिक इत्यादि के आधार पर यह कहा जाता है कि गौड़पाद माध्यमिक योगाचार सिद्धन्त के परिप्रेच्छ में वेदान्त को अद्वैत का स्वरूप प्रदान कर रहे थे पर अमुक सन्दर्भ दिया गया है। इसी प्रकार **श्री हर्ष** ने खण्डन खण्ड खाद्य ग्रन्थ में माध्यामिको के दार्शनिक पद्धति को अपनाया हैं।[1]

१. माण्डूक्य कारिका १/१७.

इस आलोक में भाष्कराचार्य एवं वेदान्तियों ने शंकराचार्य एव उनके अनुयायियों पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का अरोप लगाया है शान्तरक्षित और **कमलशील** ने तो यहाँ तक कहा है कि अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन मे कोई भेद नहीं है किन्तु अद्वैत वेदान्तियों का दोष यह है कि उन्होने परम तत्व को **नित्य** कहा हैं ।[2]

श्री हर्ष और अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने शान्तरक्षित कमलशील आदि पर यह अरोप लगाया है कि वे अद्वैत वेदान्त के मन्तब्य को ही व्यक्त करते है। उनका दोष यह है कि उन्होने कूटस्थ नित्य परमतत्व को क्षणिक और अनित्य कह दिया है इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित ने बार–बार यह कहा है कि यह ज्ञान श्रीकृष्ण ने नहीं दिया है इससे यह प्रतीत होता है कि बौद्धों को ऐसा लग रहा था कि उनका सारा दर्शन गीता में उपदिष्ट दर्शन जैसा ही है।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के पहले भी माध्यमिक दार्शनिको के द्वारा प्रतिपादित संवृत्ति और परमार्थ चतुष्कोटिक न्याय भ्रम सिद्धान्त आदि विद्यमान थे।

यह सम्भव है कि अद्वैत वेदान्तियों ने इसके आधार पर उपनिषदों का पुनः अनुशीलन किया है उसके बाद उपनिषदो में निहित गुह्य अर्थ को समझ कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है।

माण्डूक्य कारिका एवं अन्य अद्वैत ग्रन्थों के अनुशीलन से अनेक विद्वानो ने इस निष्कर्ष को प्रतिष्ठित किया है कि अद्वैत वेदान्त का दर्शन माध्यमिक

---

१. द सेन्ट्रल फिलासफी आव बुद्धिज्म पृ० सं० ११४.

२. अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विधते वही पृ० सं० ४७५.

शून्यवाद की तर्क प्रणाली से भले ही प्रभावित हुआ हो परन्तु उनकी दार्शनिक परम्परा और सिद्धान्त अपने है वे बौद्ध दर्शन से ग्रहण नहीं किये गये है।

प्रोफेसर विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार माण्डूक्य कारिका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उसके सभी चार अध्याय (आगम, वैथब्य, अद्वैत अलात्शान्ति) स्वतन्त्र ग्रन्थ है किसी दार्शनिक ने इन चारो को एक साथ करके आगम शास्त्र नाम दे दिया है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शकंराचार्य के अद्वैत वेदान्त और नागार्जुन के माध्यमिक शून्यवादी की परम्परा दोनो एक दूसरे से स्वतन्त्र है वस्तुतः दोनो परम्पराओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि और तत्व चिन्तन एक दूसरे नितान्त भिन्न हैं अद्वैत वेदान्त का मूल स्रोत उपनिषद है जो पूर्णरूप से आत्मवादी या ब्रहमवादी है इसके विपरीत नागार्जुन के दार्शनिक चिन्तन का मूल आधार बौद्ध परम्परा है ।

जो पूर्णरूप से अनात्मवादी है कुछ बिन्दुओ को लेकर वे परस्पर भले ही प्रभावित हुए हो परन्तु इनमें से कोई भी एक दूसरे का अंन्धानुकरण नहीं करता है दोनो के अपने प्रथक्–प्रथक् सिद्धान्त मौलिक तत्त्वीय चिन्तन और पृथक्–पृथक् परम्परायें है ।

शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त की 'खण्डन–मण्डन' पद्धति में प्राय. समानता पाई जाती है यह दोनो सापेक्ष बुद्धि को केवल व्यावहारिक जगत् मे सीमित मानते है बुद्धि और उसकी समस्त कोटियॉं **काण्ट** के बुद्धि विकल्पों के समान पारमार्थिक दृष्टि से असफल रहे है ।

शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त का अपना कोई मत नहीं अपनी कोई दृष्टि नहीं क्यांकि सभी मत और दृष्टियॉ बुद्धि विकल्प होने के कारण सद्–सद् अनिवर्चनीय और मिथ्या है। दोनो का परमतत्त्व अपरोक्षानुभूति का विषय है ।

आचार्य गौडपाद माध्यमिको के अजातिवाद से सहमत है उनकी कारिका और नागार्जुन की माध्यमिक कारिका में भावगत और भाषागत समानता पाई जाती है।

शंकराचार्य शून्यवाद का खण्डन नहीं करते क्योंकि वे जानते है कि शून्यवाद का खण्डन नहीं हो सकता है।

अतः शून्य को असत् के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है वे शून्यवाद के शाब्दिक अर्थ को लेकर इसे सर्वप्रमाणविप्रतिसिद्ध कहकर टाल देते है किन्तु शून्यवाद बिना किसी तत्त्व का आश्रय लिए प्रपंच्च को शून्य नहीं कह सकते है।

शून्यवाद तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करता है हम यह स्पष्ट कर चुके है ।

नागार्जुन परमतत्त्व का लक्षण बताते हुए कहते है जो अपरोक्ष, शान्त, प्रपंच्चो से परे निर्विकल्प और अद्वय हो वही तत्त्व है उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य के परवर्ती वेदान्ती भी शून्य को या तो असत्य कहकर टाल देते है अथवा यह मानते है कि शून्यवाद को माया के अर्थ में स्वीकार किया जाए तो शून्यवाद वेदान्त में निमग्न हो जाता है।

इसकी पुष्टि श्री हर्ष के इस मत से होती है कि शून्यवाद का खण्डन नहीं हो सकता है क्योंकि शून्यवाद और अद्वैत का दृष्टिकोण एक ही है केवल दोनो में केवल एक भेद है शून्यवाद विज्ञान तक को शून्य कह देता है किन्तु यह उसकी भूल है क्योंकि विज्ञान स्वयं प्रकाश और स्वतः सिद्ध है किन्तु

शून्यवाद भी विशुद्ध विज्ञान को तत्त्व मानता हैं वहाँ शून्य का प्रयोग प्रपंच्च शून्य तत्व के अर्थ में नहीं किया गया हैं ।

वस्तुतः नागार्जुन की बोधि आर्यदेव का चित्र और शान्तिदेव का बोधिचित्र प्रकारान्तर से विशुद्ध विज्ञान ही है इस प्रकार जहाँ बौद्ध मत के समर्थक पण्डितों ने शॅकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है वही अद्वैत वेदान्त के समर्थको ने माघ्यमिकों को प्रच्छन्न वेदान्ती तक कहा है कुछ विद्वानो के अनुसार शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में केवल आग्रह का भेद है न कि मतभेद ।

शून्यवाद का आग्रह प्रपञ्च की पारमार्थिक असत्यता पर है, जबकि वेदान्त का आग्रह प्रपंञ्च के व्यावहारिक आग्रह सत्व पर है।

माध्यमिक तत्व के स्थान पर आग्रह करने पर विशेष आग्रह नहीं करता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त तत्त्व के स्वरूप का विशद् विवेचन करता है।

प्रोफेसर चन्द्रधर शर्मा के अनुसार यह आग्रह एक स्वाभाविक है। क्योंकि माध्यमिक शून्यवाद दार्शनिक चिन्तन के विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तर भूमि है।

उदाहृत साहित्य

हिन्दी एवं संस्कृत

१ डॉ० मुक्तावली **माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप,** नाग प्रकाशन ११ए/यू०ए० जवाहर नगर, दिल्ली, (भारत) १९९८

२. डॉ० चन्द्रधर शर्मा **बौद्ध दर्शन और वेदान्त,** स्टुडेन्ट्स फ्रेन्ड्स इलाहाबाद, बनारस १९४६.

३ डॉ० रामजी उपाध्याय **धम्मपद**, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद १९६६

४. राहुल सांकृत्यायन **दर्शन-दिग्दर्शन**, किताब महल, इलाहाबाद १९४६

५. डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी **ग्रीक दर्शन**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद १९९१

६ नागर्जुन **मध्यमकशास्त्रम्**, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा १९९० ई०

७. चन्द्रकीर्ति **मध्यमकशास्त्रम् वृत्ति,** मिथिना विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा १९९० ई०.

८. डॉ० व्रजनारायण शर्मा **भारतीय दर्शन में अनुमान**, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल १९७३

९. डॉ० चक्रधर विजल्वान **भारतीय न्यायशास्त्र**, उत्तप्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ १९८३.

१०. नागार्जुन–सदोंग रिनपोछे **माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलासफी** ऑव, सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑव हायर टिबेटेन स्टडीज, सारनाथ, वाराणसी १९७७

११ शान्तिभिक्षुशास्त्री **बौद्ध सिद्धान्त विमर्श**, – बौद्ध विद्या विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९८५ ई०.

१२. असंग **महायानसूत्रालंकार** , मिथला विद्यापीठ, दरभंगा १९७० ई०.

१३. असग **अभिसमयालंकार** केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा सस्थान वाराणसी १९७७.

१४. स्फुटार्था **अभिसमयालंकार वृत्ति** केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सानाथ वाराणसी १९७७.

१५ डॉ० गोविन्द चन्द पाण्डेय **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, हिन्दी समिति – सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९७६ ई०.

१६ नागार्जुन **मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी**, व्याख्याकार यशदेव शल्य, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् न्यू मेहरौली रोड, नई दिल्ली १९९० ई०

१७. शान्तिदेव **शिक्षासमुंच्चय**, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९६० ई०

१८ डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा **आचार्य शंकर ब्रह्मवाद**, किताबघर, आचार्यनगर, कानपुर

१९. डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त एण्ड सतीश चन्द्र चटर्जी **भारतीय दर्शन**, पटना

२० प्रो० सगम लाल पाण्डेय **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण**, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद १९९१ ई०

२१. गोस्वामी तुलसीदास टीकाकार वियोगी हरि **विनय पत्रिका** सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली १९९१ ई०

२२ बृहदारण्यकोपनिषद **गीताप्रेस**, गोरखपुर १९५५

२३ व्याख्याकार हरिकृष्ण दास गोयन्द का **ईशादि नौ उपनिषद्**, गीताप्रेस, गोरखपुर १९५३

२४. डॉ० गजानन शास्त्री **तर्कभाषा**, केशव मिश्र – व्याख्याकार 'मुसलगॉवकर' चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९८४ ई०.

२५ डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी **दार्शनिक चिन्तन**, सरस्वती प्रकाशन, १९ कँचा श्यामदास, इलाहाबाद १९९९ ई०

२६ डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी **मूलबौद्ध दर्शन और धर्म का अर्थ**, सरस्वती प्रकाशन, १९ कँचा श्यामदास, इलाहाबाद १९९९ ई०

२७ सद्धर्म लंकावतार सूत्र – मिथिला विद्यापीठ, दरंभगा १९६३

२८. श्रीमद् भागवत, गीता प्रेस गोरखपुर.

२९. जगदीश काश्यप **संयुक्त निकाय, भिक्खु**, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा १९५९.

३०. बुद्धघोष **विसुद्धिमग्गो (३ भाग)**, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२.

३१ शुबतम छोग्डुग शास्त्री एवं रामशंकर त्रिपाठी **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि**, प्रकरण–द्वय,, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२ ई०.

३२ डॉ० हरिशकर उपाध्याय **पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास**, दर्शन अनुशीलन केन्द्र इलाहाबाद

३३ डॉ० हरिशंकर उपाध्याय **ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न**, पेनमैन पब्लिशर्स नई दिल्ली

३४ डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी **ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य चतुः सूत्री**, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ.

३५ रामधारी सिंह दिनकर **संस्कृति के चार अध्याय**, लोक भारती प्रकाशन १५ ए० महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद.

३६. डॉ० राधाकृष्णन **भगवदगीता**, सरस्वती विहार, दिलशाद गार्ड़न दिल्ली.

३७ डॉ० जयशकर मिश्र **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी.

३८. आचार्य नरेन्द्रदेव **बौद्ध धर्म दर्शन**, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली १९६४

३९. आचार्य शान्तिदेव **बोधिचर्यावतार**, अनुवादक शान्तिभिक्षु शास्त्री, बुद्ध विहार, लखनऊ १९८३.

४०. डॉ० भागचन्द्र जैन **चतुःशतकम**, आर्यदेव, अनुवादक,, आलोक प्रकाशन, नागपुर १९७१.

४१. गोस्वामी तुलसीदास **श्री रामचरितमानस**, गीताप्रेस, गोरखपुर १९९८ ई०.

४२. भरतसिंह उपाध्याय **बोधिवृक्ष की छाया में**, सस्तासाहित्य मण्डल प्रकाशन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली १९८६ ई०.

४३. डॉ० राधाकृष्णन **भारतीय दर्शन**, अनुवादक श्री नन्दकुमार गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९७२.

४४ डॉ० नन्दकिशोर देवराज **भारतीय दर्शन**, उत्तर प्रदेश, हिन्दी सस्थान, लखनऊ १९८३ ई०.

४५. डॉ० चन्द्रधर शर्मा **भारतीय दर्शन**, आलोचन और अनुशीलन,, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९८९

४६. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त **भारतीय दर्शन का इतिहास**, अनुवादक, एम० पी० व्यास राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर १६७३

४७ जगदीश काश्यप **अंगुत्तर निकाय**, भिक्खु, देवनागरी पालि सीरीज, नालन्दा १६६०

४८. **जगदीश काश्यप कथावत्थु भिक्खु**, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा १६६१.

४६. केनोपनिषद्, **गीता प्रेस** गोरखपुर १६५३

५० छान्दोग्य **उपनिषद्**, गीता प्रेस गोरखपुर

५१ जगदीश काश्यप **दीघनिकाय, भिक्खु**, नालन्दा १६६०

५२ बोधिचर्यावतार **पञ्जिकासहित**, मिथला विद्यापीठ, दरभगा १६६०

५३. असग **मध्यान्त विभाग**, सम्पादक श्री रामचन्द्र पाण्डेय

५४. माण्डूक्य **कारिका**, गीता प्रेस गोरखपुर

५५. कुमारिल भट्ट **श्लोक वार्तिक**.

ENGLISH

1 C. S. Vyas, , **Buddhist Theory of Perception**, Navrang ,New Delhı 1991

2 Louis be La Vallee Poussin ;**Theory to Nirvana**, Lankavatara sutra (English Translation)

3. K N Chatterjee ;**Vijnaptimatrata Siddhi,** Kıshore Vıdya Nıketan Bhadani, Varanasi, India 1980

4 P T. Raju ; **Structural Depths of Indian thought**, South Asıan Publishers, New Delhi, 1985

5 Sangam Lal Pande ; **Pre-Sankara Advaita Vedanta**, Darshan Peeth Allahabad, 1974

6. S Radhakrishnan ; **Indian Philosophy**, Geroge Allen & Unwın Ltd., London, 1929.

7. George Thipaut ;**The Vedanta Sutras of Sankaracharya,**: *The Sacred Books Of the East Senes*, edıted by Max Muller Volumes 34, 1980, 38 (1896) The Clarendon Press Oxford.

8 Nalinaksha Dutt ; **Mahayana Buddhism** , Tirma K.M Pnvate Ltd. Calcutta, 1976.

9 Har Dayal ;**The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature,** Motilal Banarasi Das, Delhi,1978.

10 A C. Mukherji ; Self, **Thought and Reality**, The Indian Press Private Ltd , Allahabad, 1970.

11. Kamleshıjr Bhattacharya, Johnston Kunst , **The Dialectical Method of Nagarjuna (Vigraha Vyavartini)**, Motılal Banarasıdas, Delhı 1978

12 Dr. C L. Trıpathı, **The Problem of Knowledge in *Yogacara* Buddhism,** Bharat Bharatı Publications, Durga Kunda, Varanası, 1972.

13. S. Radhakrishnan, **The Dhammapada**, Oxford Unıversıty Press Delhı 1977.

A.B. Keith

14 Dr Chandra Dhar Sharma ; **A Critical Survey of Indian Philosophy**, Motilal Banarasidas Varanasi, 1976

15 T.R.V Murti, **The Central Philosophy of Buddhism**, Munshı Ram Manoharlal, Publishers Private Ltd 1998.

16. Ashoka Kumar Chatterji; **The Yogacara Idealism**. Motilal Banarasi das, Varanası, Delhi, Patna, 1977

17. Nalinakashi Dutt, **Buddhist Sects in India,** Indological Book House, Varanası, Delhi 1977.

18. K.N. Jajatilleke ; **Early Buddhist Theory of Knowledge**, Gerge Allen & Unwin, London 1963.

19. A. B. Keith ;**Buddhist Philosophy in India and Ceylon**, Chowkhamba Vidya Bhavn Varanası 1963

20 Samdhong Rinpoche, **Madhyamika: Dialectic and the Philosophy of Nagarjuna,** The Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi, 1977

21 Anil Kumar Sarkar ,**Changing Phases of Buddhist thought**, Bharati Bhawan, Patna, 1968

22 Yama kami Sogen, **Systems of Buddhist thought**, Bharatiya Publishing House, Varanasi, Delhi, 1979.

23 Theodere Stecherbastsky; **The Concepton of Buddhist Nirvana**, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi

24. S. S Roy ' **Vedanta and Buddhism'**, *"Advaita vedanta and Buddhist Abosolutism'* (article), Centre of Advanced Study in Philosophy, Banaras Hindu University 1968

25 Buddhaghosa, **The Path of Purification (Visuddhimaggo)** [2 Volumes] Shambhala Publications INC 2045 Tran Cisco Street Berkeley, California 1956, 1964

26. W.T. Stace ; A Critical History of Greek Philosophy,Macmillan India Ltd , Delhi 1985.

27. Surendar Nath Dasgupta; **A History of Indian Philosophy**, Motilal Banarasi Das, Delhi 1975.

28 A C. Mukherji , **The Nature of Self**, The Indian Press Ltd , Allahabad, 1943

29 Nagarjuna's, **Mahapragyaparamita Sutra**, Harird Yanching Institute, Cambridge, Massachusetts 1966

30 J Takakusu , **The Essential of Buddhist Philosophy**, Motilal Banarasidas, Delhi, Patna, Varanasi 1966

31 D T Sujuki, **Outline of Mahayana Buddhism**, Harper & Row, New York, Evenston Landon, 1968

32 **"Emptiness", A Study in Religious Meaning**, Kingdon Press, New York 1967.